

# पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 46 मई-जून 2013

संपादक

भारत भारद्वाज



ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

# पुस्तक-वार्ता

अंक : 46 मई-जून, 2013

## प्रकाशक :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,  
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)  
फोन : 07152-232200, 230906  
तार : हिंदीविश्व

## प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव

email : bpsjnu@gmail.com  
फोन : 07152-232943 मो. : 08055290240

## प्रचार-प्रसार : रामप्रसाद कुमरे

email : ram.kumre81@gmail.com  
फोन : 07152-232943 मो. : 09552114176, 09406546762

© संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र वर्धा (महाराष्ट्र)।

एक अंक : ` 20

वार्षिक सदस्यता : ` 120

चेक/ड्राफ्ट कमीशन जोड़कर वार्षिक ` 145 और द्वैवार्षिक ` 265 म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा को भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटेर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, (मो. 09212796256)।

## प्रबंध, बिक्री और वितरण केंद्र :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,  
पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)  
फोन : 07152-232943

## संपादकीय संपर्क :

211, आकाशदर्शन अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091  
मो.-09313034049 (संपादकीय)  
टेली.-011-42151470

## PUSTAK-VARĀ

A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi  
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,  
Post-Gandhi Hills, Wardha-442005 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटेर्स, दिल्ली-110032 (09212796256) email : ruchikaprinters2005@gmail.com

**आवरण : बोआ सीनियर**—अंडमान की 'बो' भाषा की आखिरी जानकार शख्सियत। माना जाता है कि अंडमानी भाषाएँ नवप्रस्तर युग से भी प्राचीन भाषाओं की एकमात्र प्रतिनिधि हैं। 65000 वर्षों से भी अधिक अंडमान की निवासी जनजाति के इस सदस्या की मृत्यु के साथ ही 'बो' भाषा पूर्णतः विलुप्त हो गई। मानव समाज की एक विशिष्टता अब मात्र स्मृति भर है। अपनी मातृभाषा का एकमात्र जानकार होने की वजह से बोआ प्रायः अपनी भाषा में पक्षियों से बातें करती देखी जातीं जिन्हें वह अपना पूर्वज मानती थीं हालांकि 'चाची' कहलाने वाली इस महिला ने लोगों से बातचीत के लिए अंडमानी हिंदी व स्थानीय अंडमानी का भी पर्याप्त ज्ञान हासिल किया था।

**आवरण परिकल्पना : अशोक सिद्धार्थ** बोआ की छवि : आलोक दास; पृष्ठभूमि में प्रयुक्त अंडमान की छवि विकीपीडिया से साभार

## अनुक्रम

संपादकीय	: इंडियन प्रेस, इलाहाबाद के संस्थापक बाबू चिंतामणि घोष और 'सरस्वती'/ भारत भारद्वाज	4
पुस्तकें और मैं	: पुस्तकें—मेरा सुखसागर/ गोपाल राय	6
उपन्यास	: गुंतेर की सर्दियां : इतिहास का दूसरा रुख/ मीनू मंजरी	10
	: एक पूरे नायक की अधूरी कहानी/चंद्रदेव यादव	12
	: जीवन के बुनियादी सिद्धांतों का आखेट/बलराम	15
	: पुरातात्विक अवशेष में धड़कते दिलों की शिनाख्त/शशिकला त्रिपाठी	17
	: स्त्री मन के तहखानों में झांकते हुए/सुमन श्रीवास्तव	19
कहानी	: समय के बीच ला खड़ा करने की जिद/मधुरेश	21
कविता	: अभावों के भावृ/हरदयाल	23
	: समय के बरख्श—लंका की परछाइयां/केवल गोस्वामी	25
	: मनुष्य के अंतश्चेतना की कविताएं/विवेक सत्यांशु	26
	: बघनखा : जीवन और सौंदर्य की कविताएं/सुभाष शर्मा	28
	: स्त्री जीवन के बोल-अबोल/सूरज पालीवाल	30
आलोचना	: जगदीश चंद्र के यशस्वी कथा-व्यक्तित्व की समग्र प्रस्तुति/पुष्पपाल सिंह	32
	: सूरदास : समालोचना का रसामृत/श्याम कश्यप	36
	: हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ : एक नई दृष्टि/रामनिहाल गुंजन	39
	: बाजारवाद के विरोध में खड़ी युवा-पीढ़ी की कहानियां/अरुण होता	41
	: किस्सा कोताह या किस्सा तवील/अजित कुमार	45
	: वाचिक परंपरा का संरक्षण/स्वर्यप्रकाश	47
आत्मकथा	: आत्मविकास की ऊंची उड़ान/नीरू	48
संस्मरण	: लेखकीय गरिमा के विनम्र आत्मकथ्य/प्रमोद भार्गव	52
यात्रा	: आख्यान बनती यात्राएं/पल्लव	54
विमर्श	: धर्म और सांप्रदायिकता/प्रमोद मीणा	55
सिनेमा	: फिल्मों के माध्यम से गंभीर विचार-विमर्श/प्रांजल धर	57
सात समंदर पार	: स्नेह ठाकुर की कहानी 'प्रथम डेट' का अंतर्पाठ/साधना अग्रवाल	60
हस्तक्षेप	: युद्ध की चालाकी/अनंत विजय	63

# इंडियन प्रेस, इलाहाबाद के संस्थापक बाबू चिंतामणि घोष और 'सरस्वती'

न

वलकिशोर प्रेस, लखनऊ (1858), श्रीवेंकटेश्वर स्टीम छापाखाना, बम्बई (1871), खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर, पटना (1880), काशी नागरी प्रचारिणी सभा (1893) के बाद इंडियन प्रेस, इलाहाबाद (1900) की स्थापना आधुनिक हिंदी के प्रचार-प्रसार की दिशा में बहुत बड़ा प्रयास था। इंडियन प्रेस, इलाहाबाद के संस्थापक बाबू चिंतामणि घोष बहुत पढ़े-लिखे व्यक्ति थे। न केवल हिंदी के हितैषी थे, बल्कि परम साहित्य अनुरागी थे। इलाहाबाद में बीसवीं सदी के आरंभ में उन्होंने इस प्रेस की स्थापना इस उद्देश्य से की थी कि इससे हिंदी का सम्यक् प्रचार-प्रसार हो सकेगा। उन्हें ब्रिटिश सरकार का संरक्षण प्राप्त था। इसलिए वे ब्रिटिश सरकार के कर्मचारियों के लिए भी टेक्स्ट बुक तैयार करते थे। उनके मन में एक बड़ी लालसा थी कि हिंदी में वे एक ऐसी सचित्र मासिक पत्रिका निकालें, जिसे व्यापक हिंदी भाषी समाज का समर्थन मिले।

‘इस मासिक पत्रिका (‘सरस्वती’) का प्रकाशन इलाहाबाद से सन् 1900 ई. के जनवरी मास में हुआ था। 32 पृष्ठ की क्राउन आकार की इस पत्रिका का मूल्य चार आने मात्र था।’ बाबू चिंतामणि घोष ने इस पत्रिका के संपादन के लिए काशी नागरी प्रचारिणी सभा से संपर्क किया। ‘सभा’ के अनुमोदन से इस पत्रिका का प्रवेशांक जनवरी 1900 ई. में सभा से जुड़े लेखकों के एक बृहत संपादक मंडल—जगन्नाथदास (रत्नाकर), श्यामसुंदर दास, राधाकृष्ण दास, कार्तिक

प्रसाद एवं किशोरीलाल—में निकला। ‘दूसरे वर्ष केवल श्यामसुंदर दास ही इसके संपादक रहे। 1903 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके संपादक हुए और 1920 ई. तक रहे। इसका प्रकाशन पहले झांसी और फिर बाद में कानपुर से होने लगा था। महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, ठाकुर श्रीनाथ सिंह, पुनः बख्शी, देवी दयाल चतुर्वेदी और श्रीनारायण चतुर्वेदी इसके अंतिम संपादक हुए। यह पत्रिका बुरे संपादन में लंबे समय तक घिसटती रही और अन्ततः संभवतः 1977-78 में बंद हो गई। एक अच्छी पत्रिका का यह दुखद अंत चुपचाप हुआ।

हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण’ में लिखा है—‘हिंदी में ‘सरस्वती’ से पहले, उसके साथ-साथ और उसके बाद भी बहुत सी पत्रिकाएं निकलीं, और निकलती रहीं पर किसी भी पत्रिका में हिंदी लेखक अपनी रचनाएं छपाने के लिए ऐसे आतुर और उत्सुक नहीं दिखाई दिये जैसे सरस्वती में। मैथिलीशरण गुप्त ने अपने संस्मरण में लिखा है : “इस बीच कलकत्ते के वैश्योपकारक मासिक पत्र में मेरे पद्य छपने लगे थे। इससे मुझे कुछ अभिमान भी हो गया था। परंतु हिंदी की एक मात्र प्रतिष्ठित पत्रिका सरस्वती थी। मन मेरा उधर ही लगा था।” (द्विवेदी पत्रावली, पृ. 47)

‘सरस्वती पत्रिका को जन्म देने का श्रेय इंडियन प्रेस के अलावा काशी की नागरी प्रचारिणी सभा को था। सभा के तत्वाधान

में (यानी अनुमोदन से—बल मेरा) पहले पत्रिका निकलती थी। द्विवेदी जी स्वयं सभा के सदस्य थे। उसी सभा से उनकी टक्कर हुई।’ द्विवेदी जी ने ‘सरस्वती’ के 1905 वर्ष के अंक में सभा की खोज रपट पर एक कठोर टिप्पणी लिखी थी, जो श्यामसुंदर दास को नागवार गुजरी। अन्ततः सभा ने पत्रिका से ‘अनुमोदन’ वापस ले लिया। पत्रिका के संपादक आचार्य द्विवेदी ने ‘अनुमोदन का अंत’ शीर्षक से एक मार्मिक टिप्पणी अपने संपादकीय में लिखी।

बाबू श्यामसुंदर दास, बी.ए., बेहद महत्वाकांक्षी लेखक थे। ‘सभा’ के प्रति उनकी अटूट निष्ठा थी और वे बेहद सक्रिय और कर्मठ थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के लेखन का कद उनसे बहुत बड़ा था, लेकिन वे उन्हें छोटा समझते थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी उसी पुस्तक में आगे लिखा है—‘जो व्यक्ति स्वयं को रामचंद्र शुक्ल का निर्माता समझता था, वह स्वयं को महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनकी ‘सरस्वती’ का निर्माता भी समझता रहा हो तो आश्चर्य की बात न होगी। दोनों में टक्कर अनिवार्य थी। आश्चर्य की बात यह है कि द्विवेदी जी अपनी पुस्तकें, चिट्ठी-पत्रियों का संग्रह आदि उसी नागरी प्रचारिणी सभा को दे गए, जिसकी उन्होंने आलोचना की थी।’

नागरी प्रचारिणी सभा और खोज की रिपोर्ट को लेकर द्विवेदीजी ने ‘सरस्वती’ में जो कुछ लिखा, उससे केंदारनाथ पाठक को बड़ा दुःख और क्षोभ हुआ। बुंदेलखंड से अपना खोज संबंधी कार्य पूरा करके वह द्विवेदी जी से मिलने कानपुर आये। द्विवेदी अभिनंदन

ग्रंथ में उन्होंने अपनी भेंट का हाल इस प्रकार लिखा है : “पूज्यवर द्विवेदी जी से मेरा पहला उग्र प्रश्न यही हुआ कि सभा के कार्यों की इतनी कड़ी आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या विषय विषयौषधम् की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा? पर वाह रे सहृदयता! उसी समय श्रद्धेय द्विवेदीजी ने मुस्कुराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—‘देवता ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ।’ बस, घर में जाकर एक हाथ में एक गिलास—जिस पर एक सुंदर तश्तरी में मिठाइयाँ रक्खीं थी—तथा दूसरे हाथ में एक लोटा पानी लिए हुए बाहर आये। लाकर मेरे सामने रख दिया, और उसी कमरे के एक कोने से एक मोटी लाठी भी लाकर मेरे सामने रख दी। मुस्कुराते हुए बोले—‘सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ, तब— यह लाठी और यह मेरा मस्तक है।’ (वही, पृ. 364)

आचार्य द्विवेदी अपने समय के सबसे बड़े सजग संपादक थे। उनके संपादकीय और लेखकीय कद को मात्र भाषा-संशोधक कहकर छोटा करने का प्रयास किया गया है। जो वस्तुतः गलत है। ‘सरस्वती’ पत्रिका को उन्होंने वैश्विक परिप्रेक्ष्य से जोड़ा। जब रूसी महान उपन्यासकार तोलस्तोय का फरवरी 1911 में निधन हुआ, उन्होंने ‘सरस्वती’ में ‘रसियन ऋषि टालस्टाय’ शीर्षक टिप्पणी लिखी। इसके पूर्व इसी पत्रिका के नवम्बर 1904 अंक में वे उनका जीवन-चरित छाप चुके थे। टालस्टाय पर श्रद्धांजलि

लिखते हुए उन्होंने लिखा—‘टालस्टाय ने अपने उपन्यासों में समाज की भिन्न-भिन्न स्थितियों के चित्र से खींच दिये हैं।’ रूस में अक्टूबर 1917 में जब बोलशेविक क्रांति हुई, उस पर ‘सरस्वती’ में उन्होंने टिप्पणी लिखी। मानना पड़ेगा आचार्य द्विवेदी अपने समय से जुड़े बेहद सावधान संपादक थे। नई उभरती प्रतिभाओं का सम्मान करने वाले।

आचार्य द्विवेदी के साथ ‘भारत’ संपादक बाबू बालमुकुंद गुप्त का लंबा वाद-विवाद हुआ था, ‘अनस्थिरता’ शब्द के प्रयोग को लेकर प्रसंगवश। अभी ‘हंस’ मई 2013 अंक के संपादकीय में राजेन्द्र यादव ने असावधानीवश ‘अनिस्थिरता’ शब्द का उल्लेख किया है। इस विवाद में बेशक कटुता भी थी, लेकिन बहुत बाद में जब उनसे किसी ने पूछा कि—‘आज हिंदी में सबसे अच्छा गद्य कौन लिखता है, उन्होंने बेहिचक नाम लिया बाबू बाल मुकुंद गुप्त का। आचार्य द्विवेदी ही ऐसा कर सकते थे। नई पीढ़ी को नहीं मालूम कि जब ‘सरस्वती’ में 1907 ई. में रामचंद्र शुक्ल का लेख ‘कविता क्या है?’ पहली बार छपा था, तो, उसमें उन्होंने तीन संशोधन किए थे। (महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली, (पहला खंड), संपादक—भारत यायावर, प्रकाशक—किताबघर, दिल्ली)

**एक सूचना।** ‘पुस्तक-वार्ता’ का अगला अंक (अंक 47) मेरे संपादन में निकलने वाला अंतिम अंक होगा। यद्यपि महात्मा गांधी

अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय का आग्रह था कि मैं पुस्तक-वार्ता का संपादन करता रहूँ पर व्यक्तिगत कारणों से मेरे लिये ऐसा करना संभव नहीं है। मैं विभूति जी के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ कि उन्होंने मुझे यह मौका दिया। विभूति जी जैसा लोकतांत्रिक व्यक्ति बिरले ही मिलेगा। उन्होंने पहले ही अंक में घोषित करके प्रधान संपादक के पद से अपना नाम हटा दिया था जबकि उनके पूर्व के कुलपतियों के नाम प्रधान संपादक के रूप में विश्वविद्यालय की तीनों पत्रिकाओं—‘बहुवचन’, ‘हिंदी’ और ‘पुस्तक-वार्ता’ पर जाते थे। यही नहीं उन्होंने कभी भी इन पत्रिकाओं के संपादकों पर किसी रचना को छापने या न छापने के लिये दबाव नहीं डाला। मैं ‘पुस्तक-वार्ता’ के पाठकों और लेखकों के विशाल परिवार के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहता हूँ जिनके स्नेहपूर्ण सहयोग के बिना पुस्तक-वार्ता लोकप्रियता के उस शिखर पर नहीं पहुँचती जहाँ पिछले तीन सालों में यह पहुँची है।

इस बीच प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक और हिंदी लेखक मस्तराम कपूर और कवि गीतकार तारा दत्त निर्विरोध हमारे बीच नहीं रहे। इन्हें हम हार्दिक श्रद्धांजलि देते हैं।

# पुस्तकें—मेरा सुखसागर

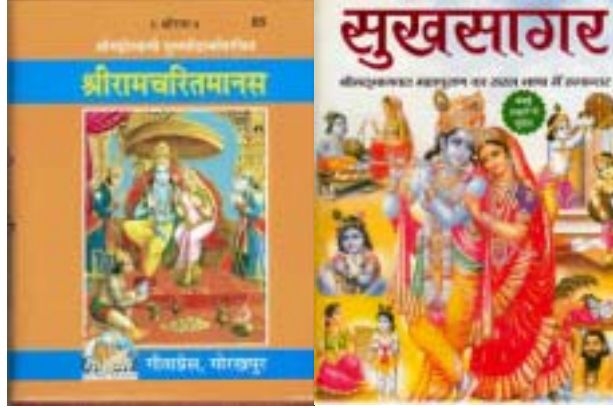
गोपाल राय

क

या लिखूँ? जब से 'पुस्तक-वार्ता' के संपादक, और मेरे पुराने छात्रों में लेखक के रूप में यशस्वी, भारत भारद्वाज ने इस विषय पर लिखने के लिए

मुझसे अनुरोध किया है, मैं पसोपेश में हूँ कि क्या लिखूँ? कैसे लिखूँ? इसके लिए मुझे अपने अतीत के कुहरीले आकाश में प्रवेश करना होगा, जो मुझे बहुत प्रीतिकर नहीं है। मैं उन सौभाग्यशाली व्यक्तियों में नहीं हूँ जो मुँह में चांदी का चम्मच लेकर पैदा होते हैं। 1937-38 में, जब मेरी उम्र स्कूल में प्रवेश करने की थी, मेरे पिता कोलकाता में कोई छोटा-मोटा काम करते थे। उनकी मेरी पढ़ाई में कोई रुचि नहीं थी। वस्तुतः इस लकवाग्रस्त बच्चे में ही उनकी कोई रुचि नहीं थी। पर मेरी मां कुछ शिक्षित थीं और नियमित रूप से रामायण या इस तरह की धार्मिक-पौराणिक पुस्तकें पढ़ा करती थीं। उनकी बड़ी इच्छा थी कि मैं पढ़ूँ। सो, उन्होंने मेरा नाम गांव के प्राथमिक विद्यालय में लिखा दिया। पता नहीं, मेरे शिक्षकों ने मुझमें क्या देखा कि वे मुझे सदा प्रोत्साहित करते रहे और बहुत कम समय में मुझे पढ़ने लायक बना दिया।

मेरे अपने घर के पास ही गांव के सबसे संपन्न, और इसी नाते मुखिया, किसान की दालान हुआ करती थी, जहां गांव के बहुत से लोग इकट्ठा होते थे। शाम होते ही वहां लालटेन जल जाती थी। मैं वहां बैठने वालों में सर्वाधिक नियमित था। मुखिया के वृद्ध होते भाई, जो स्वयं पढ़े-लिखे न थे, आते ही मुझे खूँटी पर रखी 'रामायण' या 'सुखसागर' पढ़कर सुनाने का आदेश जारी कर देते। मैं इस आदेश की लगभग प्रतीक्षा ही करता होता था। आदेश मिलते ही झट से खूँटी से बस्ते में



लिपटी पोथी उतारता और सामने लालटेन रखकर विगत दिन के छोड़े प्रसंग के आगे के अंश को जोर-जोर से पढ़कर सुनाने लगता। 'रामायण' तो निश्चित रूप से गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' था और 'सुखसागर', 'श्रीमद्भागवत पुराण' का हिंदी अनुवाद जो नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित था। पाठ्य-पुस्तकों से इतर पुस्तकें पढ़ने का चस्का मुझे इन्हीं दोनों पुस्तकों से लगा।



मुखियाजी की दालान में एक अलग खूँटी पर 'महाभारत' की एक पोथी पड़ी रहती थी, पर सार्वजनिक रूप से उसका पाठ वर्जित था। संभवतः यह इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से अनूदित संस्कृत 'महाभारत' का अनुवाद था, जिसके कई खंड थे। इसे मैं शाम को स्कूल से लौटकर या छुट्टियों के

दिन, दोपहर में पढ़ा करता था। इन्हीं दिनों, जब मैं छठी या सातवीं कक्षा में था, कहीं से देवकीनंदन खत्री की 'चंद्रकांता' की प्रति मिल गई थी, जो बिलकुल जर्जर अवस्था में थी। उसके शुरू के दो पृष्ठ गायब हो चुके थे, पर मैंने उसे पढ़ना आरंभ किया और एक ही दिन में समाप्त कर डाला था। दिन-भर किताब में डूबे रहने के लिए मुझे डांट भी खानी पड़ी थी। कुछ दिनों बाद मुझे 'चंद्रकांता' की साबुत प्रति मिली तो मैंने उसे दोबारा पढ़ डाला और उसके बाद 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने की ललक पैदा हुई। पर उस समय उसकी प्रति न मिल पाने के कारण वह ललक मन में ही रह गई।

1943-44 में मेरी 'बाहरी' पुस्तकों की पढ़ाई में कमी आ गई, क्योंकि मिडिल स्कूल की पढ़ाई के लिए मुझे निकट के कस्बे में प्रतिदिन पांच किलोमीटर पैदल जाना-आना पड़ता था। फिर भी शाम का 'रामायण' और 'सुखसागर' का वाचन, थोड़े बहुत व्यतिक्रम के साथ, जारी रहा। 1945 में आगे की पढ़ाई के लिए बक्सर आ जाने पर यह सिलसिला समाप्त हो गया। उन दिनों मैं अपने एक संबंधी के साथ उत्तर प्रदेश के एक गांव में

रहता था जो दूरी की दृष्टि से पांच किलोमीटर पर तो था ही, बीच में नाव से गंगा नदी भी पार करनी पड़ती थी। पढ़ने के लिए बिलकुल ही समय नहीं मिलता था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मैं बक्सर के पास चरित्रवन की एक मठिया में रहने लगा, जिसके मालिक सुमन जी थे, अवधेश बिहारी सुमन, जो बचपन में ही ब्रह्मचारी साधु हो गए थे और विचारों से समाजवादी थे। वे भोजपुरी और हिंदी में लिखते भी थे। 'जेहल क सनदि' उन्हीं का कहानी-संग्रह है, जो भोजपुरी का पहला कहानी-संग्रह माना जाता है।

जब मैं विचार करता हूँ तो इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूँ कि चरित्रवन में मेरा लगभग दो वर्षों का निवास मेरे साहित्य की दुनिया में प्रवेश करने का प्रस्थान-बिंदु है। इस काल में मैंने पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त इतर पुस्तकों खूब पढ़ीं। सुमन जी पुस्तकप्रेमी थे और मुझे नई-नई पुस्तकें पढ़ने के लिए उपलब्ध कराते रहते थे। पर ये थोड़े आशुक्रोधी। बड़ी जल्दी किसी बात पर नाराज हो जाते थे और किताबें देना बंद कर देते थे। अब तक मेरी किताबें पढ़ने की लालसा इतनी उग्र हो चुकी थी कि किताबें न मिलने की देर बर्दाश्त नहीं हो पाती थी। बस हमने एक रास्ता निकाला। मेरा एक मित्र था, गांव का ही लगभग समवयस्क किशोर। वह भी किताबें पढ़ने का शौकीन था। हमने आपस में मशविरा कर गांव में एक पुस्तकालय की स्थापना करने का संकल्प किया। आजादी मिलने के बाद के दिन थे और किशोरों तथा युवकों के मन में सार्वजनिक कामों के लिए उत्साह का भाव था। बस, हमने 'जनता पुस्तकालय' नाम से एक पुस्तकालय की स्थापना कर डाली। मुखियाजी के यहां ही एक छोटा-सा कमरा मिल गया। पहले हमने लोगों के यहां रखी पुरानी पुस्तकें एकत्र करनी आरंभ कीं। मुखियाजी के घर के एक युवक काशी हिंदू विश्वविद्यालय में बी. ए. में पढ़ते थे और पढ़ने के शौकीन थे। उन्होंने अपनी और अपने दोस्तों की पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएं, जो पढ़ी जाकर उपेक्षित हो जाती थीं, हमें देना स्वीकार कर लिया। उन दिनों किसी सार्वजनिक कार्य के लिए 'मुठिया' देने का रिवाज था। हमने गांव की स्त्रियों से मुठिया के रूप में अनाज वसूलना आरंभ किया और उसे बनिया को बेचकर पैसे जमा

करना शुरू किया। उन्हीं दिनों मुझे रामधारीसिंह दिनकर के कविता-संग्रह 'रेणुका' की प्रति किसी के यहां दिख गई, जो शायद उसका प्रथम संस्करण (1935) था और 'पुस्तक भंडार', पटना से प्रकाशित था। उसके प्रथम पृष्ठ पर ही दिनकर का एक भव्य चित्र दिया गया था। उस चित्र ने मुझे इतना प्रभावित किया कि मैंने दूसरे ही दिन प्रकाशक को पुस्तक की प्रति वी.पी. से भेजने का अनुरोध-पत्र भेज दिया। डाकघर मेरे गांव से पांच किलोमीटर दूर था। इस उम्मीद पर कि पांचवें दिन तो वी. पी. पहुंच ही जाएगी, मैं डाकघर पहुंच गया, पर निराश होना पड़ा। दो दिन और डाकघर जाना-आना करने के बाद आठवें दिन वी.पी. पहुंच गई। पुस्तक देखने के लिए मैं इतना उतावला था कि डाकघर में ही पैकेट खोल डाला। पहले दिनकर का चित्र देखा। लौटती बार, अपने स्कूल जाने-आने के मार्ग में पड़ने वाले वटवृक्ष के नीचे, पुस्तक खोलकर बैठ गया और पहली कविता जो निकाली, वह थी 'हिमालय' जो उन दिनों अपनी पहली पंक्ति 'मेरे नगपति! मेरे विशाल!' के नाम से भी जानी जाती थी। मैंने उस विशाल वटवृक्ष के नीचे पूरी कविता सस्वर दो-तीन बार पढ़ डाली। 'साकार, दिव्य, गौरव विराट्/पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल! मेरी जननी के हिम किरीट! मेरे भारत के दिव्य भाल' पंक्तियों ने सारे शरीर को रोमांचित कर दिया। 'कितनी मणियां लुट गईं? मिटा/कितना मेरा वैभव अशेष/तू ध्यानमग्न ही रहा; इधर/वीरान हुआ प्यारा स्वदेश।' और 'किन द्रौपदियों के बाल खुले?/किन-किन कलियों का अंत हुआ?/कह हृदय खोल चित्तौर! यहां/कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ' पंक्तियों ने करुणा और क्रोध का ऐसा वेग पैदा किया कि मन झनझना उठा। फिर कवि का नगपति से यह निवेदन—

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहां,  
जाने दे उनको स्वर्ग धीर।  
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा,  
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

और

ले अंगड़ाई, उठ, हिले धरा,  
कर निज विराट् स्वर में निनाद।  
तू शैलराट्! हुंकार भरे,  
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद।

ने तो मन में ऐसा जोश भरा कि मैं इन

पंक्तियों को गुनगुनाता और याद करता हुआ ही घर पहुंच गया।

फिर तो 'रेणुका' और मैं, दोनों एकमेक हो गए। शाम होने तक पूरी पुस्तक समाप्त। कई कविताएं दोबारा-तिबारा पढ़ी गईं। इन कविताओं में जिस कविता ने मुझे सर्वाधिक भिगोया, वह थी, 'राजा-रानी'। दिनकर ग्रामीण मानस के कवि हैं। ग्रामीण मानस में ऋतुओं का बड़ा महत्त्व होता है और उनमें वसंत और वर्षा तो अपना शानी नहीं रखतीं। वसंत, यानी फागुन-चैत के महीने सामूहिक मस्ती के दिन होते हैं। लड़कों का दल भाभियों की तलाश में घर-घर और गली-गली भटकता रहता है। जाति और 'स्टेटस' की धज्जियां उड़ जाती हैं। बड़ी-बूढ़ियों की डांट-डपटों के बावजूद लड़के भाभियों को कोनों-अंतरों से निकाल ही लेते हैं और उन्हें गोबर-माटी-पानी से तर कर देते हैं। भाभियां भी, अगर संख्या में ज्यादा और थोड़ी मजबूत हुईं तो लड़कों की गत बनाए बिना नहीं छोड़तीं। पकड़ में आ जाने पर किसी-किसी लड़के को नाद (बर्तन धोने का मिट्टी का भांड) का बर्तन भी बन जाना पड़ता है। बाग-बगीचे मंजरियों से लद जाते हैं और उनमें टहकने वाली कोयल की कूकें लड़कों को भी उनका अनुकरण करने को प्रेरित करती हैं। रात में देर तक 'फगुआ' होता है। गरज कि चारों तरफ उल्लास ही उल्लास होता है। वर्षा ऋतु में बादल गरजते हैं, पानी की बौछारें किसानों के दिल में आशा का प्रकाश भर देती हैं। दिनकर को वसंत राजा के रूप में और वर्षा रानी के रूप में दिखाई पड़ती है—

राजा वसंत, वर्षा ऋतुओं की रानी,  
पर दोनों की है कितनी भिन्न कहानी!  
राजा के मुख में हंसी, कंठ में माला,  
रानी का अंतर विकल, दृगों में पानी।

पर दिनकर को रानी की व्यथा जितनी सालती है, उतना राजा का ऐश्वर्य प्रभावित नहीं करता : 'डोलती सुरभि राजा-घर कोने-कोने, /परियां सेवा में खड़ीं सजाकर दोने। /खोले अलकें रानी व्याकुल-सी आई, उमड़ी, जाने, क्या व्यथा, लगी वह रोने।' दिनकर की सारी सहानुभूति रानी के प्रति है। होंगे राम पुरुषोत्तम और जाने क्या-क्या? पर दिनकर तो रानी की तरफ हैं—

रानी, रोओ, पोंछो न अश्रु अंचल से,  
राजा अबोध खेलें कचनार-कमल से।

राजा के वन में कैसे कुसुम खिलेंगे,  
सींचो न धरा यदि तुम आंसू के जल से?  
दिनकर को राम के महत्त्व का बोध है। पर  
उनसे गिला भी है : 'त्रेता के राजा क्षमा करें  
यदि बोलूँ/राजा-रानी की युग से यही प्रथा  
है।' फिर राम से उनकी शिकायतें शुरू हो  
जाती हैं और उनका मन व्यथा से भर जाता  
है : 'रानी जनमी थी तुम किस अशुभ लगन  
में?' सीता मिथिला की बेटी थीं और दिनकर  
मिथिला के बेटे। बहन की पीड़ा भाई को कैसे  
न तड़पा दे? 'सूखो सरयू! साकेत! भस्म हो;  
रानी! मां के उर में छिप रहो, न मुख दिखलाओ।' और कवि राजा राम को इंगित करके कहता है :

वह नव वसंत का कुसुम, और तुम लाली,  
वह पावस-नभ, तुम सजल घटा मतवाली;  
रानी! राजा की इस सूनी दुनिया में  
बुनती स्वप्नों से तुम सोने की जाली।

मैं था एक छोटा-सा बच्चा। इन पंक्तियों की  
गहराई में भला क्या प्रवेश करता? पर मुझे  
बेतरह रुलाई जरूर आ गई थी, यह आज भी  
याद है।

दिनकर की जिस तीसरी कविता ने  
मुझे बेहद प्रभावित किया था, वह थी, 'कविता  
की पुकार'। इस कविता में स्वयं कविता ने  
कवि को आदेश दिया कि, 'तुम गांवों के बनो  
भिखारी, मैं भिखारिणी का लूं वेश' और फिर  
देखो तो भला...

स्वर्णाचला अहा! खेतों में उतरी संध्या श्याम परी,  
रोमथन करती गावें आ रहीं रौंदती घास हरी।  
घर-घर से उठ रहा धुआं, जलते चूल्हे बारी-बारी,  
चौपालों में कृषक बैठ गाते 'कहं अटके बनवारी?'

और  
कवि असाढ़ की इस रिमझिम में धनखेतों में जाने दो,  
कृषक सुंदरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो।  
दुखियों के केवल उत्सव में इस दम पर्व मनाने दो,  
रोऊंगी खलिहानों में, खेतों में तो हषनि दो।  
कवि को किसानों की पीड़ा से गहरी सहानुभूति  
है, इसीलिए वह खलिहानों में रोने की आशंका  
से ग्रस्त है। और फिर तो वह साफ शब्दों में  
ही कह देने का खतरा उठाता है :

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,  
बूंद-बूंद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।  
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलाएगी।  
मैं फाडूंगी हृदय, लाज से आंख नहीं रो पाएगी।  
मुझे इस कविता ने इस कारण प्रभावित किया

कि मैं भी किसानों के उसी वर्ग  
से आता था, जिसका दर्द इस  
कविता में लिखा गया था।

'रेणुका' की जिस चौथी  
कविता ने मुझे आश्चर्यजनक  
रूप से प्रभावित किया, वह थी,  
'परदेशी'। यह बहुत कुछ  
दार्शनिक भावबोध की कविता  
है और ऐसी कविताएं बच्चों  
को प्रायः नहीं लुभातीं। पर  
बचपन में धार्मिक पुस्तकों का  
पाठ और परिस्थितियों ने मुझे  
एक सीमा तक इस भावबोध  
से भर तो दिया ही था। इस कविता में  
दिनकर ने लिखा था :

एक बात है सत्य कि झर जाते हैं खिलकर फूल यहां,  
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहां।  
मैत्री के शीतल कानन में छिपा कपट का शूल यहां,  
कितने कीटों से सेवित है मानवता का मूल यहां।  
लगता है, उस छोटी उम्र में ही मुझे स्वयं ऐसे  
कटु अनुभवों का दंश झेलना पड़ा था, अतः  
कविता में उनकी अभिव्यक्ति पाकर मन को  
एक तरह की तृप्ति मिली थी। मुझे कविता  
की इन पंक्तियों ने भी प्रभावित किया था :  
रोते जग की अनित्यता पर सभी विश्व को छोड़ चले,  
कुछ तो चढ़े चिता के रथ पर, कुछ कब्रों की ओर चले।  
रुके न पल भर मित्र, पुत्र माता से नाता तोड़ चले,  
लैला रोती रहीं किन्तु कितने मजनुं मुंह मोड़ चले।  
मैंने इन पंक्तियों को याद कर लिया था,  
जिसका एक उद्देश्य यह भी था इन्हें किसी  
निबंध में डालकर परीक्षक को प्रभावित किया  
जाए।

'रेणुका' ने मन में कविता लिखने का  
भी शौक पैदा किया। यों मैं जब 1945-46 में  
अपने रिश्तेदार के साथ नारायणपुर में रहता  
था, दोहा-चौपाई में वहां के दो जमींदारों के  
संघर्ष की कथा लिखने की कोशिश की थी।  
उसे एक कापी (अभ्यास-पुस्तिका) में लिख  
भी रखा था। 'रेणुका' से प्रेरित होकर मैंने 'वीर  
रस' की कुछ कविताएं लिखीं। 'सुमन' जी,  
जिनके साथ मैं चरित्रवन की मठिया में रहता  
था, अन्य चीजों के साथ कविताएं भी लिखा  
करते थे। एक दिन उनकी कविता की कापी  
मेरे हाथ लग गई और मैंने उन कविताओं की  
नकल पर कविताएं लिखनी शुरू कर दीं। पर  
जल्दी ही मेरी चोरी पकड़ी गई और सुमनजी ने



ऐसी डांट पिलाई कि नशा  
हिरन हो गया। सुमनजी  
क्रोधी तो थे ही, पीठ पर  
एक छड़ी भी जमा दी और  
मेरी कविता की कापी को  
चूल्हे में झोंक दिया।  
उन्होंने गद्य लिखने को  
कहा। इस घटना के साथ  
ही कविता रानी ने मेरा  
साथ छोड़ दिया और मैं  
गद्य की ओर मुड़ा।

प्रसंग लंबा होता  
जा रहा है, अतः अब दूसरी

किताब का स्मरण किया जाए जिसने मेरी  
पठनरुचि को उपन्यास की ओर मोड़ा था।  
'चंद्रकांता' के अनायास मिल जाने और उसे  
पढ़ जाने का जिक्र मैंने कुछ पहले किया है।  
'चंद्रकांता' ने 'चंद्रकांता संतति' पढ़ने की  
ललक पैदा की थी। पता चला कि बक्सर के  
सरस्वती पुस्तकालय में 'चंद्रकांता संतति' की  
प्रति उपलब्ध है पर वह केवल सदस्यों को ही  
घर ले जाने को मिलती है। मैं उसी दिन  
सरस्वती पुस्तकालय का सदस्य बन गया और  
उसका पहला खंड, जिसमें चार भाग थे, ले  
आया। रात के नौ बजे उसे पढ़ने बैठा और  
तब तक पढ़ता  
रहा जब तक  
पुस्तक समाप्त  
न हो गई। तीन  
बजे के लगभग  
किताब समाप्त  
हुई और सोने के  
लिए दो-तीन  
घंटे ही मिल  
सके, क्योंकि  
दिन में स्कूल भी



जाना होता था। इस प्रकार 'चंद्रकांता संतति'  
के 24 भाग छह दिनों में समाप्त हुए और  
उसके प्रभा-मंडल ने पता ही नहीं चलने दिया  
कि वे दिन कैसे बीत गए। 'चंद्रकांता संतति'  
में ही छपे विज्ञापन से ज्ञात हुआ कि उसके  
आगे की कथा 'भूतनाथ' में है। ऐयार के रूप  
में भूतनाथ ने 'चंद्रकांता संतति' में ही पर्याप्त  
जिज्ञासा पैदा कर रखी थी, पर वह उपन्यास  
सरस्वती पुस्तकालय में नहीं था। इसे पढ़ने  
का मौका बाद में ही मिल सका।



कविता-लेखन के साथ घटित प्रसंग ने मुझे गद्य की ओर मोड़ा था और 'चंद्रकांता संतति' के पठन ने उपन्यास की ओर। पर मैं अपने 'कैरियर' के प्रति विशेष सजग था। अब तक अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषय मेरे पाठ्यक्रम के अंग बन चुके थे और अंग्रेजी मेरे लिए दुर्लभ्य खाई की तरह थी। यद्यपि तब तक देश आजाद हो चुका था, पर अंग्रेजी सिर चढ़ी हुई थी। अपनी अंग्रेजी सुधारने के लिए मुझे अतिरिक्त मेहनत करनी पड़ती थी और रोज दो-तीन घंटे उसमें चले जाते थे। पाठ्यक्रम से बाहर की पुस्तकों के लिए समय ही कहाँ था? इस कारण मैंने 1950 के पहले 'बाहरी' पुस्तकें बहुत कम पढ़ीं। अंग्रेजी में संतोषप्रद अंक न लाने के बावजूद मैं प्रथम श्रेणी में अच्छे अंकों से मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और पटना कॉलेज में मुझे प्रवेश मिल गया।

पटना कॉलेज उस समय भारत के प्रमुख महाविद्यालयों में से एक था और उसमें एक समृद्ध पुस्तकालय था, जिसमें अंग्रेजी और हिंदी पुस्तकों का विशाल भंडार था। अच्छे अंकों के साथ उत्तीर्ण होने के कारण मुझे वहाँ के सबसे अच्छे छात्रावास में 'सिंगल बेड रूम' मिल गया और पढ़ने की अबाध सुविधा प्राप्त हो गई। मैंने इस सुविधा का खूब लाभ उठाया और प्रेमचंद के सारे उपन्यास पढ़ डाले। जब मैं इंटरमीडिएट के प्रथम वर्ष में था, तभी 'बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्' की स्थापना हुई थी (1950) और कॉलेज के छात्रों के लिए एक निबंध-प्रतियोगिता आयोजित की गई थी, जिसका विषय था 'हिंदी उपन्यास का इतिहास'। इस प्रतियोगिता में मैं प्रथम आया था और मानो नियति ने मेरे भावी अध्ययन की दिशा भी तय कर दी थी। जब मैं पुरस्कार लेने के लिए मंच पर पहुंचा तो वहाँ सामने ही दिनकरजी को देखकर गौरवान्वित हो गया था। उन दिनों सौ रुपए की कुछ कीमत हुआ करती थी, जो मेरे जैसे निम्न आयवर्ग के छात्र के लिए बहुत उत्साहवर्धक थी।

इंटरमीडिएट की परीक्षा में पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में तीसरा स्थान प्राप्त करना ईर्ष्य होता था और वह छात्र बी.ए. में अंग्रेजी, अर्थशास्त्र या इतिहास का विषय चुनता था। जब मैंने बी.ए. में हिंदी ऑनर्स लेने का निश्चय किया तो मेरे सभी

हितैषी शिक्षकों ने मुझे मना किया, पर मैंने किसी की न सुनी और बी.ए. ऑनर्स में हिंदी का ही चयन किया। मुझे स्मरण है, पहला ऑनर्स क्लास आचार्य नलिन विलोचन शर्मा का था, जिनके विशालकाय व्यक्तित्व और शांत, गंभीर व्याख्यान ने अभिभूत कर लिया था। उसके बाद मैं निरंतर उनके संपर्क में रहा और आज जो कुछ भी हूँ, वह उनके और आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के स्नेह और ज्ञान-दान का परिणाम है।

इसके बाद मैंने कितनी किताबें पढ़ीं उनका कोई हिसाब नहीं है। 1957 में मैं पटना कॉलेज के हिंदी विभाग में व्याख्याता पद पर नियुक्त होकर आ गया। नलिनजी तो विभाग में थे ही, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा भी विदेश से लौटकर आ गए थे। उसी समय मैं अंग्रेजी के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. आर. के. सिन्हा के संपर्क में आया, जिनके आवास के सामने ही मैं भी किराए के मकान में रहता था। डॉ. सिन्हा के पास अंग्रेजी की पुस्तकों का विशाल भंडार था। डॉ. सिन्हा ने मुझे अंग्रेजी उपन्यास पढ़ने की सलाह दी और जो पहली किताब मुझे पढ़ने को दी, वह थी, होगार्ड की 'शी'। वह देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों से मिलता-जुलता ऐयारी- तिलस्मी ढंग का उपन्यास था। उसकी भाषा सरल थी और कथा तो रोचक थी ही। उसके बाद डॉ. सिन्हा ने मुझे एक-एक करके ह्युगो के 'ले मिजरेब्ल', तोल्सतय के 'वार एंड पीस' और 'अन्ना करेनिना', बलजाक के 'ओल्ड फादर गोरियो', चार्ल्स डिकेंस के 'टेल ऑफ द टू सिटीज', 'ग्रेट एक्सपेक्टेशंस' और 'ब्लूक हाउस', फ्लावेर के 'मदाम बोव्हारी', दोस्तोएव्की के 'ब्रदर्स कारमाजोव', हेनरी जेम्स के 'द एम्बेसडर्स' आदि उपन्यास पढ़ने को दिए और मैंने इन सारे उपन्यासों को एक-एक कर समाप्त कर डाला। उसके बाद तो मैंने अंग्रेजी में अनूदित और मौलिक उपन्यास खरीदे भी, जिनमें से एक जेम्स जॉयस का 'यूलिसिस' भी था, जो मेरी समझ में नहीं आया और दो-चार पृष्ठ पढ़कर ही मैंने हाथ जोड़ लिए। मेरे द्वारा क्रीत उपन्यासों में गैब्रियल गार्सिया मार्खेज कृत 'वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सॉलिस्यूड' भी शामिल था। इन उपन्यासों ने मेरी उपन्यास की समझ को विकसित करने में बड़ी सहायता की। उपन्यास की आलोचना में जिन पुस्तकों ने

मेरी समझ को बेहद विकसित किया उनमें ई. एम. फोर्स्टर की पुस्तक 'आस्पेक्ट्स ऑफ द नॉवेल' और पर्सी लबॉक का 'द क्राफ्ट ऑफ फिक्शन' हैं। मैंने अपनी उपन्यास विषयक समझ को पुष्ट करने के लिए इयान वाट की 'द राइज ऑफ द नॉवेल', राल्फ फॉक्स की 'द नॉवेल एंड द पीपुल', कैथरीन लेव्हर की 'नावेल एंड द रीडर', अलॉट मरियम की 'नॉवेलिस्ट्स ऑन द नॉवेल', अलबर्ट कुक की 'द मीनिंग ऑफ फिक्शन', लियन ईडेल की 'द साइकॉलाजिकल नावेल', हेनरी जेम्स की 'द फ्यूचर ऑफ द नॉवेल', एडविन म्योर की 'द स्ट्रक्चर ऑफ द नॉवेल' आदि भी खरीद लिए और पढ़ डाले।

1958 में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा और डॉ. आर. के. सिन्हा ने मिलकर मेरे शोध के लिए जो विषय चुना, वह था 'हिंदी कथा-साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव'। इसके लिए डॉ. सिन्हा ने मुझे क्यू. डी. लीविस की 'फिक्शन एंड द रीडिंग पब्लिक' नामक किताब पढ़ने का सुझाव दिया, जो पटना कॉलेज पुस्तकालय में उपलब्ध थी। वस्तुतः वही पुस्तक मेरे शोधप्रबंध का आधार बनी। उसी समय नलिनजी को किसी पुस्तक की दुकान पर रिचार्ड होगर्ट की 'दे यूसेस ऑफ लिटरेसी' नामक किताब दिखाई पड़ गई जिसे उन्होंने मेरे लिए खरीद दिया। उसके बाद 1963 तक मैंने नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय, चैतन्य पुस्तकालय, पटना; पटना कॉलेज और पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना और नेशनल लाइब्रेरी, कोलकाता में उपलब्ध हिंदी उपन्यास की हजारों पुस्तकें पढ़ डालीं, जिसका प्रमाण मेरी पुस्तक 'हिंदी उपन्यास कोश' (खंड 1 और 2) है। इसके बाद मैंने 'समीक्षा' पत्रिका का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया और अपने संपादन-काल में सैकड़ों उपन्यास-पुस्तकें पढ़ीं और उनकी समीक्षाएं भी लिखीं। इन सभी का विवरण देना इस निबंध में संभव नहीं है। अतः यहीं श्री भारत भारद्वाज को यह सब लिखने का अवसर प्रदान करने के लिए धन्यवाद करते हुए इस कथा को समाप्त करता हूँ।

द्वारा डॉ. सत्यकाम, एच-2, यमुना, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110067 टेली. 011-29533534

# गुंतेर की सर्दियां : इतिहास का दूसरा रुख

मीनू मंजरी

लॉ

रेंस वेनूती ने अपनी पुस्तक 'द ट्रांसलेटर्स इनविजिबिलिटी' (वेनूती, 1995) में अनूदित पाठ के देशीकरण और विदेशीकरण की बात की है। ये मूलतः अनुवाद की दो प्रक्रियाएं हैं—देशीकरण में अनुवादक लक्ष्यभाषा के पाठ को मूलभाषा की सांस्कृतिक, सामाजिक, भाषिक प्रवृत्तियों के अनुरूप बनाकर पेश करता है। वहीं विदेशीकरण में वह पाठक को जताता है कि वे एक भिन्न भाषिक-सांस्कृतिक परिदृश्य की रचना पढ़ रहे हैं और उन्हें अपनी पाठकीय सेंसिबिलिटी उसी तरह से समायोजित करनी होगी। देशीकरण एक प्रजातिअभिसारी (एथनोसेंट्रिक) दृष्टि है तो विदेशीकरण पूरी तरह प्रजातिअपसारी (एथनोडेविएं)। देशीकरण मूलभाषा के लेखक को अपनाकर घर ले आता है, वहीं विदेशीकरण पाठक को अपने दर-दरवाजे खोल घर से बाहर निकलने को कहता है। आमतौर पर देशीकरण की प्रक्रिया अपनाने वाले अनुवादक पाठकपरक दृष्टि रखते हैं, वहीं विदेशीकरण अपनाने वाले अनुवादक पाठ की शुद्धता को पाठकों की सुविधा पर तरजीह देते हैं। जाहिर है, पाठकपरक दृष्टि पढ़ने की लय में रोड़े नहीं अटकाती लेकिन अनुवाद की ईमानदारी थोड़ी संदिग्ध हो जाती है। अनूदित पुस्तकें यदि पाठकपरक दृष्टि वाली हों तो पाठकों से थोड़े धीरज की अपेक्षा रखती हैं। एक विदेशी सांस्कृतिक, भाषिक, सामाजिक अनुभव को अपनी भाषा में समझने में थोड़े धक्के (ग्लिचेज) लगते हैं, लेकिन जब गाड़ी चल पड़ती है तो यह यात्रा निश्चय ही निराली और अलग होती है।

मूल स्पेनिश से अनूदित पैराग्वार्ड उपन्यास 'गुंतेर की सर्दियां' पढ़ते समय यही अनुभव होता है। एक बार जब आप कथा का

सूत्र पकड़ लें तो यह आपको वैसे ही जकड़ लेती है जैसे कि टोनी मॉरीसन के त्रासद उपन्यास। अनुवादक प्रभाती नौटियाल ने पाठकों की मदद के लिए पैराग्वे के सामाजिक-राजनीतिक संदर्भ अपनी भूमिका में दे दिए हैं। यह भूमिका उपन्यास को समझने के लिए बहुत जरूरी है।

पैराग्वे का इतिहास युद्धों में जीत और हार का इतिहास रहा है और जैसा कि अनुवादक कहते हैं—“पैराग्वे के लिखित इतिहास की...दशा-दिशा इस बात पर निर्भर करती है कि उसे कहाँ लिखा गया...”। फूको (फूको 2002) के ज्ञान और सत्ता का कॉम्बिनेशन पैराग्वे के इतिहास-लेखन में स्पष्ट देखा जा सकता है। जिनके पास सत्ता है, उनके पास ज्ञान को अपनी ओर अपनी तरह से मोड़ लेने के पर्याप्त अवसर हैं। लेकिन हमने यह भी देखा है कि ऐसी अवस्था में साहित्य एक



विचलन प्रस्तुत करता है, तस्वीर का दूसरा रुख भी दिखाता है। लेखक निर्वासित होते हैं, यंत्रणा पाते हैं, जेल में जाते हैं लेकिन विश्व का साहित्य 'विरोध' के साहित्य से समृद्ध-परिपूर्ण हुआ है और इतिहास का एक पूरक फलक मिला है।

'गुंतेर की सर्दियां' पैराग्वे में व्याप्त तानाशाही के विरुद्ध ऐसा ही अभिलेख है। अस्सी के दशक की तानाशाही के खिलाफ छात्रों, बुद्धिजीवियों, आम जनता के रोष और प्रतिकार को यह अद्भुत शब्द-प्रवण रूप में प्रस्तुत करती है। पहले खंड में तोतो आस्वागा नामक प्रोफेसर पैराग्वे की मूल भाषा ग्वारानी में प्रचलित विश्वासों के बारे में कक्षा में लेक्चर देता है और बताता है उनके इस विश्वास के बारे में कि “दुनिया बुरी है...एक महान दैवी जगुआर द्वारा यह दुनिया नष्ट कर दी जाएगी और जीवित बचे लोगों में एकमात्र ग्वारानी बचे रहेंगे।”

एपोकैलिप्स की इस पृष्ठभूमि में हम पाते हैं कि देश घृणास्पद सैनिक तंत्र के अधीन है और किसी भी विरोधी स्वर को घोर यंत्रणा द्वारा दबा दिया जाता है। वेरोनिका और सोलेदाद युवा छात्र हैं और वे कविताओं द्वारा अपना विरोध व्यक्त करती हैं। वहीं एलीसा गुंतेर की अमेरिकी पत्नी है जो उन्हें सहयोग देती है। फादर कासेरस उनके विद्यालय के प्रमुख हैं और गरीबों के हिमायती हैं। लेखक ने दिखाया है कि राजनीतिक जीवन व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन पर भी बड़ा प्रभाव डालता है। सभी पात्रों के अपने बेडरूम सीक्रेट्स भी हैं—जैसे कि वर्ल्ड बैंक के अध्यक्ष गुंतेर की पत्नी एलीसा का आस्वागा से प्रेम संबंध। सोलेदाद का वेरोनिका के भाई से प्रेम संबंध। जब पुलिस सोलेदाद को पकड़कर ले

जाती है, तब वह उसकी व्यक्तिगत जानकारियों का भी उसके खिलाफ उपयोग करती है। तानाशाही माहौल में प्रोपेगंडा के सफल प्रयोग का यह उदाहरण है—“तू समलैंगिक क्यों है, तू कम्युनिस्ट क्यों है और तू अपने आपको जगुआर में कैसे बदल लेती है।”

जुआन मार्कोस तानाशाही की कथा के ताने-बाने में कई और बातें भी लेकर आते हैं। अंग्रेजी भाषा का प्रभाव वहां के समाज में इतना बढ़ा है कि स्कूल में पढ़ने वाले भद्रलोक अपने बच्चों को सिर्फ अंग्रेजी में नाटक करते देखना चाहते हैं, चाहे भले ही वे उसे समझें या नहीं।

वर्ल्ड बैंक का दक्षिण अमेरिकी छोटे देशों पर प्रभाव भी व्यंग्यात्मक रूप में सामने आता है, जब गुंतरे अपनी भांजी सोलेदाद को छुड़ाने की बात करने देश आते हैं और हर समाचारपत्र उन्हें अपनी सुखियों में रखता है। हालांकि सेना के कर्मठ घुड़सवार जनरल गौसालेस सोलेदाद को छुड़वाने का वचन इस वजह से देते हैं कि वह उनके नाई और मित्र रहे सानब्रिया की बेटी है लेकिन सोलेदाद के जीवित न छूट पाने की ग्लानि में वे खुदकुशी कर लेते हैं। तानाशाही की हद तो यह है कि सोलेदाद का ताबूत खोलने की भी मनाही है, उसे सीधे दफनाना है ताकि उसकी यंत्रणाएं अनचीन्ही ही रह जाएं। सोलेदाद की जेल से लिखी कविताएं ही उसका स्वर बन जाती हैं—“मेरी आवाज तानाशाह के खिलाफ और अंगूरों, मासूमियत और जीवन के पक्ष में खड़ी है।”

सेवानिवृत्ति के बाद कई वेश्यालय चलाता ब्रिगेडियर लार्राइन एक अन्य महत्वपूर्ण पात्र है, जो राजनीतिक-सैनिक नेतृत्व की गिरावट दर्शाने का प्रतीक है। जब वेरीनिका और आल्बेर्तो के पिता उसे अपनी जायदाद और बच्चों का संरक्षक बना देते हैं तो वह उन्हें मारकर फायदा उठाने की कोशिश करता है।

मार्कोस के उपन्यास में यौन संबंधों के तुलनात्मक चित्रण से भी पात्रों के चरित्र उभारे गए हैं। एलीसा और तोतो प्रेमी हैं—भले ही एलीसा बीस वर्षों से विवाहित है। फादर कासेस प्रेम की बात पर कहते हैं—“हां, मेरी बच्ची, बिल्कुल किया, हर दिन”। वे प्रेम को एक उदात्त रूप में देखते हैं। वहीं आल्बेर्तो,

वेरीनिका और सोलेदाद का प्रेम एक बचकाना, दिग्भ्रमित युवाओं का प्रेम है—“दरअसल सबसे अच्छी बात न संभोग था, न बियर, न धूम्रपान ही। एक-दूसरे के साथ का अहसास होना...और एक-दूसरे को सुनना और भी अच्छी बात थी।”

वहीं दूसरी ओर फादर मार्सेलिन है जो अपने विद्यालय के बच्चों का यौन शोषण करता है। ब्रिगेडियर लार्राइन तो आल्बेर्तो की लाश के साथ संभोग को तैयार है। पाठकों की संवेदना बिलख उठती है, लेकिन तभी एपोकैलिप्स के अग्रदूत के रूप में जगुआर का मुखौटा पहने एलीसा उसे ठीक सामने से गोली मार देती है।

मार्कोस की पुस्तक अनुवाद में भी पाठक को छटपटाहट से भर देती है। ठीक वैसे ही जैसे टोनी मॉरीसन की ‘द ब्लूएस्ट आई’ या ‘बिलवेड’। वैसे ही जैसे दिल्ली में सरे बाजार हुए गैंगरेप की खबर। साहित्य और जीवन एक-दूसरे से जुड़े ही तो हैं। वैसे ही जैसे दिमाग यकीन नहीं करना चाहता कि यह सच है, लेकिन यह सब सच होता है। सोलेदाद और पेरोनिका की यंत्रणाएं उपन्यास का अंश हैं, लेकिन ऐसा जीवन में भी तो होता ही है। यह अहसास पाठक को बेचैन कर देता है।

क्लासिक रचनाएं स्थानिक फलक पर रचे जाने के बावजूद सार्वभौमिक सार्थकता पा लेती हैं। यही सार्वभौमिकता अनुवाद के पाठकों को पाठ को समझने की दृष्टि देती है। मार्कोस के उपन्यास-लेखन में शब्द प्रेम है। अनुवादक प्रभाती नौटियाल ने मूल स्पेनिश से अनुवाद में यह प्रेम बखूबी दिखाया है। वहीं वे उपन्यास में आए आतंक, विरोध, प्रेम, नैतिकता जैसे भावों को भी अपने अनुवाद में उभार पाए हैं। ए. के. रामानुजन ने यू. आर. अनंतमूर्ति के उपन्यास ‘संस्कार’ के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में लिखा है—“अनुवाद केवल पाठ का अनुवाद करने की आशा नहीं रखता, वह (सभी बाधाओं के बावजूद) एक नॉन-नेटिव



पाठक को मूल नेटिव पाठक में बदलने की आशा भी रखता है।” (रामानुजन (अनंतमूर्ति) 1979) ‘गुंतरे की सर्दियां’ के अनुवाद की सफलता यही है कि पैराग्वे की जनता की हताशा और आतंक को पाठक एक मूल नेटिव पाठक की तरह महसूस कर पाते हैं।

### संदर्भ

1. फूफो, मिशेल (2002) आर्किलॉजी ऑव नौलेज, रुटलेज, लंदन।
2. यू.आर. अनंतमूर्ति (अनु. ए. के. रामानुजन), 1979, संस्कार, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, यूएसए।
3. वेनूती, लॉरेंस, 1995, द ट्रांसलेटर्स इनविजिबिलिटी, साइकोलॉजी प्रेस, यूएसए।

गुंतरे की सर्दियां/खान मान्वेल मार्कोस/अनु. प्रभाती नौटियाल/साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन, 35, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली-110001/मूल्य : 150

ए-102 (पहली मंजिल), रिजर्व बैंक ऑफिसर्स कॉलोनी, कैलाश, मलाड (पूर्व), साई मंदिर के पास, मालाड, मुंबई-400097, फोन : 9835699558

# एक पूरे नायक की अधूरी कहानी

चंद्रदेव यादव

ब

हुत पहले प्रेमचंद ने उपन्यास के बारे में विचार करते हुए लिखा था कि 'उपन्यास जीवन की आलोचना है।' अर्थात्

जीवन का वह रूप जो स्वस्थ नहीं है, सामान्य नहीं है और विसंगतियों और विडंबनाओं से युक्त है, उस जीवन को उपन्यास का विषय बनाया जाता है। समाज में ये समस्याएं होती ही हैं, इसलिए प्रेमचंद ही नहीं, बल्कि सभी उपन्यासकारों ने मानव-विरोधी समाज व्यवस्था तथा उसके एकांगी और पारंपरिक मूल्यों को उपन्यास का आधार बनाया है। कुछ इसी तरह की बात अब्दुल बिस्मिल्लाह ने भी अपने एक लेख में लिखी है—“उपन्यास जीवन का गहन, गंभीर और व्यापक आख्यान है।” (उपन्यास होता क्या है?) वास्तव में उपन्यासकार जीवन को संपूर्णता में न सही, विस्तार से तो प्रस्तुत करता ही है। और जब उपन्यास में जीवन को विस्तार से पेश किया जाएगा तो उसमें किसी एक व्यक्ति की ही नहीं, बल्कि उसके सामूहिक और सामाजिक जीवन की भी विशद व्याख्या होगी। दुनिया के सभी प्रसिद्ध उपन्यासों में यह बात दिखाई देती है। हिंदी के तमाम उपन्यास—चाहे वह 'गोदान' हो या 'मैला आंचल', 'शेखर : एक जीवनी' हो या 'झूठा सच', 'रागदरबारी' हो या कोई और—अपने समकाल को बेबाकी से सामने लाते हैं। जहां तक अब्दुल बिस्मिल्लाह का प्रश्न है, उनके कम-से-कम दो उपन्यास—'झीनी झीनी बीनी चदरिया' और 'मुखड़ा क्या देखे'—इस मानदंड पर खरे उतरते हैं। उनमें व्यापकता भी है और गहराई भी।

समकालीन हिंदी कथा-साहित्य में अब्दुल बिस्मिल्लाह एक जाना-पहचाना नाम

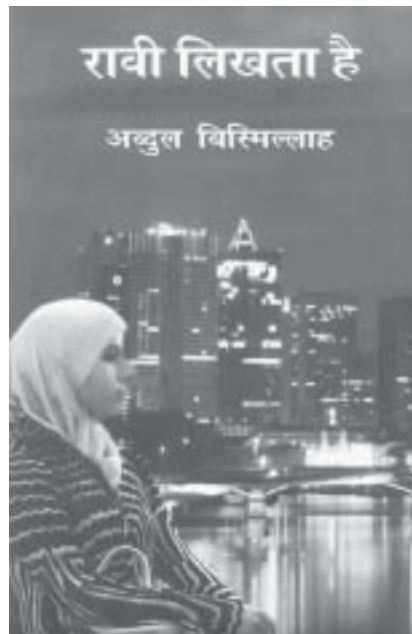
है। उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता और एक विशेष प्रकार का रचनात्मक तेवर उन्हें एक खास पहचान देते हैं। यह बात उनके सभी उपन्यासों में देखी जा सकती है। लेकिन जो गहनता, गंभीरता और व्यापकता, 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' और 'मुखड़ा क्या देखे' में है वह उनके शेष उपन्यासों में नहीं है। लेकिन उनके दूसरे उपन्यासों में जीवन का एक कटु यथार्थ अवश्य है, जो हमारे दिलों को कुरेदता है, टीस पैदा करता है। यहां एक बात का उल्लेख करना जरूरी लगता है। वह यह कि उनके तीन उपन्यास—'जहरबाद', 'समर शेष है' और 'रावी लिखता है'—लगभग एक ही पृष्ठभूमि पर आधारित हैं, इसीलिए उनमें एक आंतरिक अन्विति दिखाई देती है। इनमें लेखक की उपस्थित महत्वपूर्ण है। ये तीनों ही उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए हैं। 'जहरबाद' और 'समर शेष है' तो पूरी तरह

आत्मकथात्मक हैं, लेकिन 'रावी लिखता है' में यह शैली थोड़ी बदली हुई है। पहले दोनों उपन्यासों में जहां कथानायक मैं के द्वारा लेखक अद्वैत होकर जिंदगी की विसंगतियों को उजागर करता है वहीं 'रावी लिखता है' में यह कार्य मुख्य रूप से रावी और बड़ी अप्पी करते हैं। इस उपन्यास में मूल कथा बहुत बड़ी नहीं है, किंतु उसकी व्याप्ति पूरे उपन्यास में है। इसमें स्थान, काल और परिवेश बहुत विस्तृत हैं। इसीलिए इसमें वर्तमान में अतीत और अतीत से वर्तमान में छलांग लगती हुई दिखाई देती है।

'रावी लिखता है' की शुरुआत होती है मॉस्को से—“रात के दस बजे हैं। बाहर अच्छी-खासी धूप है। सामने की खिड़कियों पर सूरज की चौंधिया देने वाली किरणें चमक रही हैं। बाहर सन्नाटा है। लोग खा-पीकर सो गए हैं। सुबह उठना है। काम पर जाना है। एक हम हैं कि जब तक अंधेरा न हो, नींद नहीं आती। नींद तो नींद, भूख भी नहीं लगती।”

मॉस्को का जीवन ऐसा ही है।

दरअसल यह चार पीढ़ियों की कहानी है। कथा के सूत्र जोड़ने वाली बड़ी अप्पी बहुत संवेदनशील है। वह मॉस्को में है। छोटे भाई-बहन भी यूरोप के अलग-अलग देशों में रह रहे हैं। डैडी के बचपन से लेकर जवानी तक के संघर्ष की कहानियां उन्हीं के मुंह से सुनकर बड़ी अप्पी अक्सर अतीत में चली जाती हैं और फिर कभी अपने दादा की तो कभी परदादा की कहानियों में डूब जाती हैं। वह कुछ-कुछ नॉस्टेलजिक है। प्रवासी लोग वैसे भी नॉस्टेलजिक होते हैं। लेकिन यह लड़की चारों पीढ़ियों को एक सूत्र में जोड़ने के लिए प्रयासरत रहती है। इस क्रम



में वह डैडी को समझने की कोशिश करती रहती है। इसीलिए कहानी कभी मॉस्को से वासा, म्युनिख की ओर बढ़ जाती है तो कभी दिल्ली होते हुए मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की ओर। इस कथा को पढ़ते हुए इसीलिए दीन मुहम्मद और वल्ली के द्वारा हम कभी 'जहरबाद' में वर्णित मंडला इलाके से जुड़ जाते हैं तो कभी 'समर शेष है' के बनारस-इलाहाबाद से। इसमें डैडी के बचपन और किशोरावस्था की बेबस अंधेरी दुनिया का वह तल्लख चित्रण नहीं है, बल्कि सांकेतिक रूप से उसका उल्लेख भर किया गया है। दरअसल डैडी को अपने बचपन और युवावस्था की स्मृतियों से इतना गहरा लगाव है कि वे बार-बार इसे कहना-सुनाना चाहते हैं। बड़ी अप्पी अपने डैडी में अपने दादा-परदादा के लक्षण ढूंढती है और अंततः नहीं समझ पाती कि आज से 50-60 साल पहले जिंदगी से संघर्ष करनेवाला गंवई लड़का आज जो एक सम्मानित कवि-कथाकार है, और जो अपने बच्चे और समाज से गहराई से जुड़ा हुआ है, वह है क्या!

'रावी लिखता है' की केंद्रीय कथा दीन मुहम्मद और वली मुहम्मद की है। वे व्यापार करते थे। अंग्रेजी राज में व्यापार में घाटा होने के कारण वे हताश हो गए। उन्होंने अपने बेटे को व्यापार में लगाना चाहा, मगर बेटे वली मुहम्मद का मन व्यापार में नहीं लगता था। वे पढ़ना चाहते थे। दीन मुहम्मद पुश्तैनी व्यवसाय छोड़कर एक जमींदार के यहां नौकरी करने लगे। विद्रोहियों की मदद करने के आरोप में जमींदार के गिरफ्तार हो जाने के बाद दीन मुहम्मद उसका सारा कारोबार देखने लगे। यद्यपि वे अंग्रेजों के खिलाफ थे, किंतु खुलकर सामने नहीं आते थे। रियाया उनसे डरती थी। बकाया न देने पर उन्होंने पनिक-जाति के एक गरीब किसान को इतना मारा कि उसने आत्महत्या कर ली। उसी दिन उसकी पत्नी ने अपने चार बच्चों को मारकर अपनी जान दे दी। इस क्रूरता के लिए उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई, लेकिन आश्चर्यजनक रूप से वे बच गए। फिर वल्ली की शादी हुई। पत्नी के व्यवहार से नाखुश होकर उन्होंने उसको तलाक दे दिया। बाद में चचेरे भाई फतेह मुहम्मद की मृत्यु के बाद विधवा भाभी से



शादी की। लेकिन वह भी सतवांसा बच्चा पैदा कर गुजर गई। इसके बाद वल्ली गांव से दूर एक पहाड़ी इलाके में चले गए। वहां उन्होंने चमड़े का कारोबार शुरू किया, फिर एक ग्वाले की लड़की से शादी कर ली। दो बच्चे पैदा होने के बाद पति-पत्नी में झगड़े होने लगे। तंग आकर वल्ली ने उसे तलाक दे दिया। फिर वे जंगल विभाग में काम करने लगे। वहां उनका काफी रौब-दाब था। बाद में वे साधारण और गरीब लोगों से रिश्तत लेने लगे—किसी से मुर्गी, किसी से चावल, किसी से घी। फिर वहां एक मुसलमान अफसर आया। उसने वल्ली को पुनः शादी के लिए उकसाया और इस तरह वल्ली ने करिमिया नामक लड़की से चौथी बार शादी की। जाहिर-सी बात है 'डैडी' उन्हीं वली मुहम्मद और करिमिया के बेटे हैं। यह कहानी कितनी लेखक की है, इसे उनके एक कविता-संग्रह से समझा जा सकता है—वली मुहम्मद और करीमन बी की कविताएं।

बच्चों को मालूम है कि डैडी से कोई लड़की प्यार करती थी और दोनों के बीच पत्र-व्यवहार भी हुआ था। बच्चे उनके बारे में जानना चाहते हैं, किंतु डैडी उन्हें बहका देते हैं—“अब कुछ याद नहीं। बस इतना याद है कि वे खत—खासकर उसके—हिंदी की छायावादी कविताओं की तरह होते थे।” निस्संदेह उपन्यास में एक भूमिका के साथ

'अंतःसलिला' शीर्षक से शामिल प्रेमिका के सभी पत्र छायावादी कविता की ही तरह हैं। तो क्या ये पत्र उसी लड़की के हैं जिनसे डैडी का पत्र-व्यवहार था? अगर हां, तो इतने खुले व्यक्तित्व वाले डैडी ने धुंधलका क्यों बनाए रखा है? लेखक ने इसे पहली ही बने रहने दिया है।

'अंतःसलिला' इस उपन्यास के लिखे जाने से पहले ही कहानी के रूप में प्रकाशित हो चुकी थी। अब्दुल बिस्मिल्लाह ने इसे बहुत बारीकी से इस उपन्यास में बुन दिया है। लेकिन इस सतर्क बुनावट के बावजूद इस पहलीनुमा प्रसंग से कुछ बातें स्पष्ट होती हुई दिखाई देती हैं। तब जाकर यह प्रसंग उपन्यास से जुड़कर सार्थक लगने लगता है। इस तरह यह लंबा प्रसंग उपन्यास की अंतर्वर्ती धारा से जुड़कर डैडी के जीवन के एक नए गवाक्ष को खोलता है। इस रहस्य को गुल्लू की मम्मी जानती है।

उपन्यास में डैडी केंद्रीय भूमिका में हैं। वे अतीत और वर्तमान को जोड़ने की कड़ी हैं। डैडी के द्वारा ही उनके बच्चे उनके अतीत को जानने की कोशिश करते हैं और फैंटेसी के द्वारा दीन मुहम्मद और वली मुहम्मद भी बच्चों से साक्षात्कार करते नजर आते हैं। बच्चे डैडी में अपने दादा और परदादा का अक्स देखने की कोशिश करते हैं। डैडी का व्यक्तित्व टुकड़ों-टुकड़ों में खुलता है। डैडी को भारत के विभिन्न अंचलों की बोली-बानी और संस्कारों का ज्ञान है। उन्हें मॉस्को, वासा, जर्मनी, इंग्लैंड आदि एशियाई और यूरोपीय देशों की भौगोलिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं का भी पर्याप्त ज्ञान और अनुभव है। डैडी को सभी यूरोपीय देश एक जैसे लगते हैं। उनमें भारत जैसी विविधता नहीं है। विदेशी जमीन पर विकास की संभावनाएं तलाशता गुल्लू हिंदुस्तान से प्यार करता है। डैडी बताते हैं कि विदेशियों की नजर में भारत अब भी ऋषियों-मुनियों और सपेरों का देश है। विदेशी स्कूलों में बच्चों को पढ़ाई जाने वाली किताबों में अभी भी हिंदुस्तान की सैकड़ों बरस पहले की तस्वीर पेश की गई है, जबकि हकीकत यह है कि भारत बहुत बदल चुका है। आधुनिक भारत यूरोप-अमेरिका के मॉडल पर अपना भविष्य गढ़ रहा है। यहां भी बाजार



अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है। अगर यही हाल रहा तो संभव है कल भारत अपनी विविधता और सांस्कृतिक पहचान को खो देगा।

डैडी के व्यक्तित्व का एक और पहलू है। वह है भाषा, साहित्य और संस्कृति का ज्ञान। ज्ञान ही नहीं, उसकी अच्छी-खासी समझ भी। 'डैडी' नाम का चरित्र बहुपठित है। इसलिए उन्होंने उपन्यास में पुश्किन की एक कविता का बेहतरीन इस्तेमाल किया है। उपन्यास में कुछ शब्दों का बारीकी से विश्लेषण किया गया है, जैसे हिंदी शब्द 'पाही' और रूसी शब्द 'दया' का। लेकिन घर से बाहर स्थित ये उप-आवास अपने अर्थ-संदर्भ में एक नहीं हैं। इस तरह के भाषा और संस्कृति के विमर्श किताबी नहीं, अनुभव-सिद्ध हैं। पुराने जमाने के पहाड़े और हिसाब लगाने के तरीके या कि मांस और मछली के संबंध में पुरखों का ज्ञान, जिसे हम भूल चुके हैं, लेखक ने विस्तार से देकर उस संस्कृति को सुरक्षित कर दिया है।

'रावी लिखता है' की अंतर्वस्तु जितना चौंकाने वाली है उतना ही इसका रूप-विधान भी। अब्दुल बिस्मिल्लाह के कथा-साहित्य में अलग-अलग शिल्पगत प्रयोग तो हैं, किन्तु ऐसा अन्यत्र नहीं है। यही नहीं, हिंदी कथा साहित्य में भी इस तरह का रूप-बंध नहीं दिखाई देता है। यह कथा अनेक शीर्षकों में लिखी गई है, जैसे—रावी ने कथा कही एक

जन्म की, दादा की कहानी : रावी की जबानी, यह ख्वाब की ताबीर नहीं है, गुल्लू का ख्वाब जिसे मैंने देखा—उपन्यास विधा में यह एक नया प्रयोग है। लेखक ने स्वयं से स्वयं के अतीत को न बताकर दूसरे से कहलवाया है। दूसरी बात यह है कि लेखक ने अपनी 'अंतःसलिला' नामक पत्र-शैली की कहानी को उपन्यास में बखूबी इस्तेमाल किया है। प्रत्यक्षतः यह डैडी की प्रेम-कथा का हिस्सा नहीं है, लेकिन यह डैडी से जुड़ने से ही कथावस्तु और शिल्प को सार्थक बनाती है। तीसरी बात यह कि इसमें नाट्य-विधा का भी प्रयोग किया गया है। वल्ली की चौथी शादी के प्रसंग को लेखक ने नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है—“अब वल्ली के जीवन रूपी नाटक का चौथा अंक आरंभ होने जा रहा था।” फिर नाटक शुरू होता है—“पर्दा धीरे-धीरे खुलता है।” फिर दृश्य का वर्णन। यह प्रसंग लंबा नहीं है। इसका अंत होता है 'यवनिका' से। कहानी आगे चलती है और थोड़ी देर में 'बूझ-अबूझ' शीर्षक से खत्म हो जाती है। इसमें एक स्वप्न है, फैंटेसी है।

एक उपन्यास में इतनी विधाओं का प्रयोग लेखक की प्रयोगधर्मिता को दर्शाता है। उपन्यास की मूल कथा की शुरुआत किस्सागोई शैली में की गई है—‘एक गांव में एक औरत रहती थी, जिसका शौहर सौदागर था।’ अब्दुल बिस्मिल्लाह की यह

प्रिय शैली है, जिसका उन्होंने कई जगह प्रयोग किया है। एक महत्वपूर्ण बात यह भी कि उपन्यास की कथा एक क्रम से आगे नहीं बढ़ती। बीच-बीच में यह टूटती है। कभी मॉस्को आ जाता है, कभी म्युनिख। कभी कुछ, कभी कुछ। दृश्यों का यह अंतराल कथा को एक नया आयाम देता है। फिर स्मृतियां। फिर कथा। इसमें एक जगह कच और देवयानी की प्रेम-कथा भी दी गई है। ये सब इस उपन्यास को प्रयोगधर्मी उपन्यास बनाते हैं। फिर भी लेखक कथा की मूल संवेदना से पाठकों को जोड़े रखता है। इसकी भाषा के तो कहने ही क्या! छोटे-छोटे वाक्य। चित्रात्मक वर्णन। बेजोड़।

पिछले डेढ़-दो दशकों से हिंदी उपन्यासों में कई तरह के शिल्पगत प्रयोग हुए हैं। लेकिन वे हर जगह सार्थक ही रहे हों, ऐसा नहीं है। इसी को लक्ष्य कर अब्दुल बिस्मिल्लाह ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'विमर्श के आयाम' की भूमिका में लिखा है—“हिंदी उपन्यास में शिल्प के प्रति अत्यधिक झुकाव इस बात का प्रतीक है कि उपन्यास में अंतर्वस्तु पर कम और शिल्प पर ज्यादा जोर दिया जा रहा है। इस क्रम में मूल्य और विचारधारा भी गौण हुए हैं।” दूरदर्शन के एक कार्यक्रम में इस पुस्तक पर बोलते हुए डॉ. नामवर सिंह ने इससे सहमति व्यक्त की थी। जाहिर है, रचना में अंतर्वस्तु, मूल्य और विचार प्रमुख होते हैं। इनकी जगह रचना में शिल्प को महत्व देना रचनात्मक दृष्टि से ठीक नहीं है। विचारणीय यह भी है कि जो लेखक स्वयं रचना में अंतर्वस्तु, मूल्य और विचार को प्रमुख मानता हो, वह केवल प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं कर सकता। इस तरह 'रावी लिखता है' अपने नए शिल्प में उसी सामाजिक प्रतिबद्धता की बात करता है जितना अब्दुल बिस्मिल्लाह के दूसरे उपन्यास करते हैं।

रावी लिखता है/अब्दुल बिस्मिल्लाह/राजकमल प्रकाशन, 1-वी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 200

हिन्दी विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली-110025 मो. : 9818158745

# जीवन के बुनियादी सिद्धांतों का आखेट

बलराम

के

शव का कहानी-संग्रह 'रक्तबीज' भारतीय ज्ञानपीठ ने छपा तो उपन्यास 'हवाघर' राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ने और वहीं से छपा था पांचवां कविता संग्रह 'धूप के जल में', लेकिन उनका पहला कविता-संग्रह 'शहरी का दुख' तभी छप गया था, जब वे एम.ए. के छात्र हुआ करते थे। 'अलगाव', 'एक सूनी यात्रा', 'ओ पवित्र नदी' तथा 'धरती होने का सुख' जैसे कविता-संग्रह और 'फासला' तथा 'अलाव' जैसे कहानी-संग्रहों के बाद हाल ही में उनका उपन्यास 'आखेट' आया है, जिसमें केशन ने एक जगह लिखा है : पत्नी को डार्लिंग कहना प्रो. देव का तकिया कलाम था। लगाव कम और उपहास को अधिक दर्शाता। ऐसा नहीं था कि मिसेज देव इसके प्रति अनजान हों। ऐसे मौके पर उनकी देह में बस एक ऐंठन-सी होती और आंखों में ऐसा निचाट (अकेलापन), जिसमें आपकी चीख कोई नहीं सुनता। तभी उन्होंने कहा था, "गंवाने का डर तभी होता है, जब पास में कुछ बचा हो।" शब्दों का मंतव्य समझ प्रो. देव पुराने जख्मों को कुरेदने पर आमादा हो गए, "अगर हम जीवन से भरे हुए हों तो घर कभी खाली नहीं लगता। हम खुद ही खाली होकर अकेले हो जाते हैं—भीतर से और बाहर से भी। यह तभी होता है, जब हम अपने इस खालीपन और अकेलेपन के लिए दूसरों को जिम्मेदार ठहराना शुरू कर देते हैं, आत्म-निरीक्षण से बचने के लिए।" पति और पत्नी के बीच अन्दर-ही-अन्दर पलता, यह तयशुदा और बेरहम मुकाबला दिलचस्प था। एक-दूसरे को नीचा दिखाने के तमाम हथियारों से लैस। इसके लिए

भले ही उन्हें कोई भी कीमत चुकानी पड़े। दोनों के पास अपने-अपने चाबुक थे। यह दीगर बात है कि इस चाबुक से कौन पीटता और कौन पीटता है। ऐसा दारुण दांपत्य किसे काम्य हो सकता है, लेकिन हम देखते हैं कि ज्यादातर भारतीय घरों का आम दृश्य यही है, जिसकी परिणति अक्सर शारीरिक हिंसा में होती है। खासकर तब, जब शब्द भीतर भरे जहर को ढोने में असमर्थ हो जाते हैं, लेकिन कभी-कभी हिंसा बाहरी न होकर भीतरी होती है और अनोखी भी। दांपत्य जीवन में दिखने वाली ऐसी हिंसा के तमाम दृश्य 'आखेट' में भरे पड़े हैं।

'आखेट' में मिस्टर और मिसेज देव की ऐसी नारकीय जिंदगी से उलट और अलग जिंदगी जीना चाहते हैं आलोक और कामना, जो देव दंपति की नकारात्मक दृष्टि की बजाय सकारात्मक दृष्टि से दुनिया को देखते हैं : कामना की देहयष्टि छरहरी होते

हुए भी भरी-भरी-सी है। कद से न बहुत लंबी, न छोटी। उसका रंग जैसे बर्फीली चोटी पर सुबह की धूप। ललछौंह की ओर झुका हुआ। दोनों भौंहों के बीच पान के पत्ते जैसी सुख बिंदी। अर्थपूर्ण मुस्कान लिए बड़ी-बड़ी मेहराबदार आंखें। उंगलियां संवेदनशील, स्निग्ध, कोमल और सुडौल। भरे-भरे होंठ लिए उसका चेहरा हमेशा एक विरल आभा से दीप्त रहता। समय के साथ-साथ नहीं, बल्कि एक कदम आगे चलने का संकल्प उसकी आंखों से साफ-साफ झलकता। परिपक्वता को अधीरता के साथ जज्व करता, जिससे वह सोच और जीवन की समझ के स्तर पर अपनी उम्र से कहीं अधिक बड़ी और दृष्टि संपन्न दिखती और इरादों पर अडिग भी, जैसे एक छलांग में सभी बाधाएं पार कर अपना अभीष्ट पा लेगी। आलोक को लगा कि जैसे दुनिया के इस जंगल में अपनी तरह से इस खोज में ईमानदारी और निष्ठा से जुटी इस युवती के प्रति खुद को पूरी तरह समर्पित कर देना चाहिए। ऐसे में उससे तो क्या, उसकी छाया तक से प्रेम कर सकता है वह। वह यानी आलोक।

प्रो. देव की पाशविक इच्छाओं में कैद दीप्ति को भी मुक्त कर रोशनी में ले आने के लिए सन्नद्ध है आलोक, जिसमें उसका साथ देती है कामना। आलोक से एक जगह दीप्ति कहती है : "उस रोज जब तुमने कहा कि 'अपने से बाहर निकलो' तो तुम्हारा कहना मेरे भीतर अरसे से सोये जल में चट्टान की तरह गिरा और मुझे मथता रहा। लगा कि तुम पर भरोसा कर सकती हूँ।" कहते-कहते दीप्ति का स्वर भारी हो आया, जैसे किसी असहनीय बोझ तले दबी उसकी आत्मा चिथड़ा-चिथड़ा हो रही हो।



केशव 'आखेट' के जरिए पाठक को बताते हैं कि आदमी के अबूझ अंतर्मन में इस या उस रूप में विद्यमान असुर ने सदियों से औरत को अपनी हवस का शिकार बनाया हुआ है। उसी असुर के माध्यम से वह औरत पर अपना आधिपत्य जमाए रखना चाहता है। शायद इसलिए कि वह उसके 'शक्तिरूपा' हो जाने से डरता है, जो भारतीय मिथकों में न जाने कब से देवी के रूप में प्रतिष्ठित है। 'आखेट' इसी मान्यता की रोशनी में, खासकर भारतीय जीवन पद्धति में, औरत की पुरातन काल से चली आ रही सामाजिक दासता को हमारे समक्ष रखते हुए बताता है कि कैसे आदमी के अंतर्मन में मौजूद इस आसुरी वृत्ति ने औरत का न सिर्फ नैतिक, बल्कि दैहिक शोषण भी किया और उसकी पहचान को मिटाते हुए 'भोग्या' मात्र बनकर रह जाने के लिए विवश कर दिया।

उपन्यास हमें बताता है कि आदमी कैसे असुर बनकर पहले तो मकड़जाल बुनता है और फिर अपने बुद्धि चातुर्य से औरत को चमत्कृत कर उसमें फंसने के लिए ललचाता और अंततः उसकी हस्ती को स्लेट पर लिखे अक्षरों की तरह मिटा देने का कुकृत्य कर डालता है। अपने भीतर मौजूद अनेक सकारात्मक वृत्तियों को पूरी तरह दैहिकता में लपेटकर न सिर्फ सृजन के बुनियादी सिद्धांतों को चुनौती देता, बल्कि अपने आसुरी रूप को अनावृत्त भी कर लेता है। 'आखेट' के जरिए केशव इंगित करते हैं कि आदमी के रेगिस्तान में औरत किसी सदानिरा नदी की तरह होती है, लेकिन खुदगर्ज आदमी उसे अपने घर आंगन में निर्मित तरणताल में तब्दील कर डालता है, मौके-बेमौके गोताखोरी के अपने व्यसन को पूरा करने और तन-मन के 'मैल' को धो डालने के लिए। इस तरह वह सहअस्तित्व के महावृक्ष को अनावृत्त कर उस सहज सुखद गति से मूर्तिमान हो सकने वाले उत्कृष्ट जीवन को तबाह कर डालता है, जिससे जीवन का महाकाव्य भी रचा जा सकता था।

कॉलेज में अंग्रेजी पढ़ाने वाला प्रो. देव खुद को सदियों पहले पैदा हुए उस तिब्बती तांत्रिक का वंशज बताता है, जो लामा की मूर्ति के रूप में उपस्थित कुटिल मुस्कान के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता हुआ

आज भी प्रो. देव के ड्राइंग-रूम में विराजमान है। प्रोफेसर अपने ही घर में पत्नी-बढ़ी दीप्ति को तथाकथित तंत्र विद्या के बल पर कामुकता से सुगबुगाती अंधेरी और रहस्यमयी दुनिया में खींचकर उसके साथ रति क्रिया से परमानंद प्राप्त करता है। दीप्ति का कौमार्य भंग कर प्रोफेसर उसके 'व्यक्ति' को हमेशा के लिए 'अपराधबोध' की अहर्निश जलती भट्टी में झोंक देता है, जिसकी वजह से तमाम कोशिशों के बावजूद वह अपने स्त्रीत्व से सामंजस्य नहीं बिठा पाती। हालांकि मोहाविष्ट स्थिति में अनजाने अनचाहे हुए उस रति काम के बावजूद उसका कौमार्य भंग नहीं होता, वह तो 'क्राउन ऑफ द पर्सनैलिटी' के सुरक्षा कवच में सुरक्षित ही बचा रह जाता है।

दीप्ति को काफी समय तक होते रहे अन्याय का बोध और उस घृणित कृत्य का भान तब हुआ, जब प्रो. देव के शिष्य-शिष्या आलोक और कामना उसके संपर्क में आए। आलोक और कामना प्रो. देव के खिलाफ मोर्चा खोल देने के साथ दीप्ति को उस नरक से निकालने की कोशिश करते हैं, जबकि वे खुद अपनी तमाम सामाजिक बाधाओं के बावजूद प्रेम की मानवीय सरणी के तहत संतुलन को चरम तक ले जाने के लिए प्रयत्नशील हैं, अर्द्धनारीश्वर के मिथक में निहित स्त्री और पुरुष के बीच संभव संतुलन की ओर अग्रसर होते हुए।

उपन्यासकार केशव ने प्रो. देव और दीप्ति तथा आलोक और कामना के रूप में दो मानव युगल एक-दूसरे के आमने-सामने खड़े किए हैं—एक प्रतिगामी तो दूसरा ऊर्ध्वगामी। उपन्यास पाठकों को यह भी बताता है कि जीवन लगातार संकरी होती अंधेरी सुरंग ही नहीं, कहीं दूर टिमटिमाती रोशिनियों का द्वीप भी हो सकता है, कभी-कभी उजाले का समंदर भी। यह हमारी दृष्टि पर निर्भर करता है कि हम किसे चुनते हैं। समय की कसौटी पर खरे उतरने वाले अन्य भारतीय मिथकों के माध्यम से भी उपन्यास अपने इस मंतव्य को बखूबी व्यक्त करता चलता है। केशव ने इसमें यह इंगित करने की कोशिश भी की है कि जीवन और जगत में चरमोत्कर्ष संभव है।

'आखेट' में वस्तुतः जड़-चेतन और आत्मा जैसी आध्यात्मिक और पशुवत जी जा रही जिंदगी का अविस्मरणीय चित्रण किया गया है, जो स्त्री और पुरुष तत्व के दो ध्रुवों के समझे-बूझे विलयन को ही नहीं, उनके ब्रह्मांडीय सृजन के साथ नैसर्गिक संबंध को भी अभिव्यक्त करता है। यह एक ऐसी कथा है, जिसे भारतीय मिथकों की रोशनी में नए सिरे से परिभाषित करने की कोशिश की गई है, इस बात का ध्यान रखते हुए कि जो प्रासंगिक है, उसे बचा लिया जाए और जो अप्रासंगिक है, उससे किनारा कर लिया जाए।

'आखेट' में मानव-जीवन को दसों दिशाओं और दसों अंगुलियों से पकड़ने की कोशिश केशव ने की है और मजाल है कि भाषा ने कहीं भी अपना वैभव खोया हो, जिसकी छूट इस तरह के बीहड़ वृत्तांतों में रचनाकार अक्सर ले लिया करते हैं। केशव जैसे जीवन के साधक हैं, वैसे ही भाषा के भी। भाषा के सिद्ध, पीर-फकीर, जहां भाषा उनकी चेरी बन गई है, उनका हर आदेश मानने के लिए विवश, पर वह नरेश मेहता, अज्ञेय या निर्मल वर्मा जैसी भाषा बिलकुल नहीं है, क्योंकि केशव के पास जीवन का विस्तार है, भाषा का भी और अभिव्यक्ति कौशल में तो वे बेजोड़ हैं ही। क्या कथ्य और क्या भाषा, दोनों ही स्तरों पर उन्होंने अपने रचनाकार को इतना ऊंचा उठा दिया है कि समकालीन कथाकारों में बहुत कम लोग उनके आसपास भी ठहरते हैं।

हवाओं के लिहाफ में दुबके रहने वाले कांगड़ा जनपद के गांव टंवर में तहसीलदार बिहारी लाल के घर अप्रैल, 1949 में जन्मे केशव अपनी मां कौशल्या देवी की पहली संतान रहे। हिंदी-उर्दू और अंग्रेजी के अध्येता पिता उर्दू में शायरी और अंग्रेजी में गद्य लिखा करते थे, जिनसे बचपन में ही केशव के भीतर साहित्यिक संस्कार पनप गए। हिमाचल के हमीरपुर में बी.ए. करते समय प्रो. ओ. पी. शर्मा जैसे अंग्रेजी के विद्वान-सर्जक ने केशव के भीतर पनपे सर्जनात्मक संस्कारों को पोषित-पल्लवित ही नहीं किया, अपने प्रतिभाशाली छात्र का साहित्यिक विकास भी खूब किया। चंडीगढ़ में अंग्रेजी से एम.ए. करते समय इंद्रनाथ मदान से



आगे बढ़ने की प्रेरणा पाने वाले केशव हर्मन हेस, डी. एच. लारेंस और टी. एस. इलियट को पसंद करते हैं। घर में पिता से सर्जनात्मक संस्कार ग्रहण करने वाले केशव को शिवालिक हिमाचल के जीवन और परिवेश की मोहक और दाहक छवियां एक साथ प्राप्त हुईं, जिन्हें इनके गद्य और पद्य में बखूबी देखा जा सकता है। पालमपुर के करीब अंट्रेटा में प्रसिद्ध आयरिश अभिनेत्री नोरा रिचर्ड से हुई केशव की मुलाकातों ने उनके एलीट संस्कारों में लोक संस्कार रोपे तो सरदार शोभा सिंह, भावेश सान्याल, रंधावा और गुरशरण सिंह की कलात्मक गूजों-अनुगूजों ने केशव की प्रारंभिक सर्जनात्मकता को लगातार धार और धूप दी, जिससे वे खरे और खांटी रचनाकार बनकर हिंदी साहित्य के आकाश पर छा गए।

उम्र की उतरती धूप में बालों पर उभरती सफेदी को देखते हुए केशव के कवि ने जैसे खुद को उनके कथाकार से एकाकार कर लिया, कुछ इतना कि उपन्यास में उनके कवि की परछाइयां तो सर्वत्र नजर आती हैं, लेकिन कवि कहीं भी सामने नहीं आता। केशव की भाषा में कोई सायास रचाव दिखाई नहीं पड़ता, दिखाई पड़ता है तो सिर्फ भाषा का वैभव, एकदम पारदर्शी। भाषा के अलावा चित्र और चरित्र रचने में वे किसी कलाकार की तरह अपना अधिक श्रम और समय खर्च नहीं करते, बल्कि किसी कुशल छायाकार की तरह गतिशील चित्रों और चरित्रों के माध्यम से पाठक की संवेदना को छू भर देते हैं। बस, उनका काम खत्म और पाठक का काम शुरू। सृजन का, सार्थक सृजन का यही तो करिश्मा है, यही तो जादू है, जो पाठक के सिर चढ़कर बोलता है। 'आखेट' में केशव खुद कहीं नहीं बोलते, उनकी भाषा ही बोलती और जीवन के रहस्य खोलती है, कुछ ऐसे रहस्य, जिन्हें जानने के लिए ही पाठक साहित्य पढ़ते हैं।

आखेट / केशव/सामयिक प्रकाशन, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 395

सी-69, उपकार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1 एक्स., दिल्ली-110091, मो. 09810333933

उपन्यास

# पुरातात्विक अवशेष में धड़कते दिलों की शिनाख्त

शशिकला त्रिपाठी

‘‘मा

नव के हाथों द्वारा निर्मित प्राचीन काल की जो वस्तुएं हमें मिलती हैं उनके आधार पर हमें उसके जीवन संबंधी अवधारणाएं तथा मान्यताएं स्थिर करनी पड़ती हैं। यह स्पष्ट है कि इसमें अनुमान तथा कल्पना को स्थान देना अनिवार्य होता है।’’ (श्यामाचरण दुबे, मानव और संस्कृति, पृ. 42) इरावती के उपन्यास ‘त्रिशपथगा’ की कथा-संरचना का विधान ऐतिहासिक आधार एवं पुरातत्वों के अवशेष की प्रेरणा से ही हुआ है। लोथल की यात्रा करते हुए ‘मोती, भांड के टुकड़े और तीन उंगलियों के निशान वाले ईंट’ को पाकर अपने प्रागैतिहासिक अध्ययन से मानव-संस्कृति के विकास की प्रस्तुति के लिए उन्होंने सैंधव सभ्यता को कल्पनाशीलता से कृति में पुनरुज्जीवित किया है। कथा-तंतुओं का विकास ‘मेलुक्ख’ नगर के इर्द-गिर्द हुआ है, जिसकी पहचान अब लोथल के रूप में होती है जो गुजरात में अवस्थित है। कथानक का यह ऐतिहासिक आधार उपन्यास को विशिष्ट बनाता है।

वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐतिहासिक उपन्यास लिखते हुए इतिहास को वास्तविक परिवृश्य में चित्रांकित किया है। उसी विरासत को संभालने का प्रयत्न इस कृति में हुआ है। घटनाओं और चरित्रों के अंतरावलंबन में इतिहास रचनात्मक-शक्ति बनकर उल्लिखित हुआ है जबकि इतिहास को साहित्यिक कलेवर में प्रस्तुत करने में तथ्यात्मक त्रुटियों की आशंका अधिक बनी रहती है। साहित्य तो कल्पनाओं के स्तम्भ पर ही टिकता है। लेखिका ने इस ऐतिहासिक जोखिम को उठाते हुए ‘लोथल’ की पिच पर

खड़े होने का साहस किया है, ‘‘जिसका समृद्धकाल 2450 ई.पू. से 1900 ई.पू. तक और पतनकाल 1900 ई.पू. से 1600 ई. तक माना जाता है।’’ (एस. आर. राव, लोथल एंड इंडससिविलाइजेशन, पृ. 54)

उपन्यास में इतिहास के साथ न्याय करने के लिए लेखिका ने परिवेश विशेष की संज्ञा की उपयुक्तता, निवासियों के जड़ों की पहचान, प्रवासियों का अनुसंधनात्मक विवरण, जीविकोपार्जन के लिए होते रहे व्यापारों का ब्यौरा, आयात-निर्यात की वस्तुओं का विवरण, प्राणांतक समुद्री यात्रा, वंश-परंपरा—इंडो आर्यन प्रजाति—भृगुवंशी—भार्गवों का सांस्कृतिक विश्लेषण, सामाजिक रीति-रिवाज, उत्सवधर्मिता व सुरक्षाचक्र के लिए धनुर्विद्या के प्रति आग्रह जैसे तमाम संदर्भों में अधिकाधिक तर्क जुटाते हुए ही कथ्य का संग्रथन किया है। लंबी भूमिका लिखकर उन्होंने उपन्यास को पठनीय



बनाने में कोई कोर-कसर नहीं रखी है। साहित्य के पाठक की भी अभिरुचि प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्वों के प्रति उत्पन्न हो सकती है।

‘मेलुक्ख’ संज्ञा के प्रयोग के लिए लेखिका ने कई तार्किक आधार दिए हैं। के. डी. सेठना और गार्डन चाइल्ड जैसे प्रसिद्ध इतिहासकारों के हवाले से उन्होंने क्रमशः ‘शतपथ ब्राह्मण’ के ‘म्लेच्छ’ शब्द का तद्भव ‘मेलख’ या ‘मिलक्ख’ और मेसोपोटामिया के अभिलेख में अंकित दिलमुन, मगन और मेलुहह के आधार पर मेलुहह की पहचान मेलुक्ख के रूप में किया है। इस संज्ञा का उल्लेख दामोदर धर्मानंद कोसंबी ने भी किया है, “मेसोपोटामिया के निवासी सिंधु प्रदेश को संभवतः मेलुक्ख कहते थे। परंतु 1750 ई.पू. के बाद मेलुक्ख का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, जिसका अर्थ यह है कि व्यापारी संबंध टूट गए थे। संभवतः आक्रमणकारियों के कारण।” (प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, पृ. 82) मेलुक्ख में व्यापार के लिए जिन वस्तुओं का निर्माण और निर्यात किया जाता था, वे वस्तुएं थीं—काष्ठ, लाल पाषाण और गजदंत से बनी चीजें, कलात्मक भांड, कार्पासिक (सूती वस्त्र) मोतियां आदि। कहना न होगा कि व्यापार के लिए अंतर्देशीय संबंध बनाने की परंपरा सिंधु सभ्यता काल में ही प्रारंभ हो चुकी थी। शायद, उससे भी पहले। भूमंडलीय या भूमंडीकरण की परिकल्पना व परिचर्चा भले ही समकालीन चिंतन हों।

वातावरण सृजन के लिए उपन्यास लेखिका ने तत्कालीन व्यापार ही नहीं, जनजीवन-मूल्य, उपासना-पद्धति—यज्ञवेदी, अनुष्ठान में प्रयुक्त होने वाले पात्र, मनोरंजन के संसाधन, कृषिकार्य (चावल की खेती होने का प्रमाण मिला है) आदि का वर्णन और ऐसे चरित्रों की संरचना की है जो कहीं से घुसपैठिए प्रतीत नहीं होते। मिश्रान्नपद सुमेरी होते हुए भी मेलुक्खवासी लगते हैं। मेलुक्ख का समाज लेखकीय-दृष्टि में श्रेष्ठ था—“जहां शासन और शासित में केवल कर्तव्य का अंतर था। जहां शासन-सूत्र धर्म अर्थात् सदाचार, नैतिकता और न्यायप्रियता के हाथों में रहता था, जहां स्नेह के रज्जु अपनों को ही नहीं, विदेशियों को भी नगर से बांध लेते थे। (त्रिशपथगा, पृ. 80) यह विचार, भारतीय संस्कृति के प्रति लेखिका का निष्ठावान होना



अधिक संकेतित करता है। उपन्यास में ही नादा और अदप जैसे चरित्र हैं जो लोगों की निगाह में खटकते हैं, वे अपराध करते हैं।

दुनिया की प्राचीनतम सभ्यता, सिंधु-सभ्यता—हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो काल से अद्यावधि अगर कोई तत्त्व मानव-जाति को एक तार में जोड़ता है तो वह है मानवीय भाव—‘प्रेम’। प्रेम की अनुभूति और अभिव्यक्ति किसी के लिए किसी भी युग में अद्वितीय होती है। वह लौकिक हो या अलौकिक, अनिर्वचनीय प्रतीत होता है। इस अद्भुत भाव को ही केंद्रीयता प्रदान करते हुए लेखिका ने इतिहास को साहित्यिक कलेवर प्रदान किया है और साहित्य किसी भी युग का क्यों न हो, प्रासंगिक ही होता है।

नायिका वन्धि है और नायक है धानुष जो परस्पर प्रेम करते हैं मगर उनका प्रेम अशरीरी, सूक्ष्म एवं वायवीय है। दोनों अपने समाज के लिए स्वयं को जिम्मेदार महसूस करते हैं। भावना से कर्तव्य को बड़ा समझते हैं इसलिए अपने प्रेम को मूक ही रहने देते हैं। ‘खग ही जाने खग की भाषा’ को चरितार्थ करता उनका प्रेम परस्पर के हृदय में जाहवी-जल की भांति प्रवहमान होता है। वन्धि मेलुक्खपति व महावणिज सुयुज्य और मातृपदा की पुत्री है और धानुष ‘मेलुक्ख की पारीख के बाहर वन्यप्रदेश का वासी’ जो मेलुक्ख में प्रधान सार्थवाह है। दोनों के विवाह होने पर उनके कर्तव्य पालन में विघ्नकारी स्थितियां कैसे पैदा होंगी, इस प्रश्न पर उपन्यास में कोई उत्तर नहीं मिलता। वन्धि न तो प्रणय निवेदन करती है और न ही विवाह-संस्था में बंधने को तैयार है। सखी अग्निगर्भा का विवाह विदेशी प्रेमी गाभिल से संपन्न कराने में उसने ही

तत्परता दिखाई थी। परंतु, जब अग्नि उसे प्रेरित करती है तो उसका कथन होता है, “अग्नि मुझे मेलुक्ख की, गढ़ी की, यहां की परंपराओं की रक्षा करनी है। सुमेध को बड़ा करना है। मेरे तात और अम्बा ने तात वांगु को वचन दिया है। मेरा व्यक्तिगत सुख मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखता।” (पृ. 157) फिर भी, धानुष से भेंट और संवाद के लिए प्रतीक्षातुर रहती है। बाट जोहती-जोहती दिवंगत हो जाती है। धानुष का व्यवहार भी आत्मीयता से सराबोर होता है परन्तु अपनी अभिव्यक्ति में वह सदैव गरिमा बनाए रखता है। युवा धानुष वन्धि की स्मृति को अपनी शक्ति और पाथेय बनाकर यात्रा पर निकलता है और वृद्ध होकर जब लौटता है तब अपनी त्रिशपथगा वन्धि की तलाश करता है। जब सुमेध से वन्धि की प्रतीक्षा और मृत्यु की सूचना मिलती है तो वह भी प्राण त्याग देता है। उसकी तरफ से भी प्रेम को सशरीरी बनाने का कोई यत्न नहीं होता।

कहना न होगा कि नायक-नायिका का प्रेम छायावादी मानसिक बनावट की उपज है। जयशंकर प्रसाद अपनी कहानियों—‘आकाशदीप’ और ‘पुरस्कार’—में प्रेम और कर्तव्य के घनघोर द्वंद्व प्रस्तुत करते हुए कर्तव्य को श्रेयस्कर बताते हैं किंतु, इरावती ने चरित्र विन्यास और कथानक में द्वंद्व के डोरों को गूंथा ही नहीं है जिससे व्यक्ति और समाज के तनाव का खिंचाव उत्पन्न नहीं हो पाता। जाहिर है, उपन्यास का यह कमजोर पक्ष है। द्वंदात्मक स्थितियों से रचना की अर्थवत्ता बढ़ती है।

समाज-हित व्यक्ति-हित से श्रेयस्कर होता है। इसी आदर्श को उपन्यास का उद्देश्य बताया गया है। सुयोग्य वर की तलाश में जब

वन्हि के माता-पिता मेलुक्ख से प्रस्थान करते हैं तो वे रास्ते में ही काल के गाल में समा जाते हैं तब वन्हि मेलुक्खवासियों की रक्षा का दायित्व स्वयं लेने का निर्णय करती है वंश परंपरा के अनुसार। अबला स्त्री के रसायन में वह ढली नहीं है। वह आत्मरक्षार्थ धनुर्विद्या और तैराकी में निपुण बताई गई है। हालांकि, क्रियाशीलता में उसकी सामाजिक गतिविधियां उपन्यास में नगण्य हैं।

उपन्यास के शीर्षक 'त्रिशपथगा' से आशय वन्हि से ही है। उसे इस संज्ञा से विभूषित करता है धानुष जिसका स्पष्टीकरण देता हुआ वह कहता है, "देवि! मर्यादा, मेलुक्ख की रक्षा और माता-पिता की परंपरा की रक्षा; इन तीन शपथों पर चलकर आप मानुषी से देवी बन जाएंगी, त्रिशपथगा।" (पृ. 236) इस प्रकार वन्हि उपन्यास की केंद्रीय-बिंदु बन जाती है जिसके इर्द-गिर्द कथा-सूत्र विकसित किए गए हैं। 'मानुषी से देवी' बनने के उच्चादर्श पर कोई टीका-टिप्पणी करना अनुचित ही होगा। उपन्यास का शिल्प-विधान विशेष रूप से भाषा प्रभावित करती है। हिंदी पढ़ते हुए संस्कृत भाषा एवं साहित्य का बोध होना अनूठा है। प्रथम उपन्यास होते हुए भी कथा-विकास में कहीं झोल का आभास नहीं होता। संभवतः उनकी साहित्यिक अभिरुचि, आधा दर्जन नाटकों का लेखन-मंचन, उपन्यासों के लिए गए नाट्य-रूपांतरण उपन्यास की भूमि तैयार करते हैं। प्रचलित हिंदी का प्रयोग न होने पर भी उपन्यास पठनीय है, यह लेखिका की उपलब्धि है। इतिहास और साहित्य में समन्वय-स्थापन समुचित हुआ है। लोथल के श्मशान क्षेत्र से युग्म शवाधान को देखकर प्रेमी युगल की परिकल्पना और उपन्यास के लिए प्रेम रस की गागरी भर लेना अद्भुत है। जहां इतिहासकार उसमें 'सतीप्रथा' का प्रमाण पाता है (एम. आर. राव, लोथल एंड इंडस सिविलाइजेशन, पृ. 149) वहीं उपन्यास लेखिका उस कुरीति को अस्वीकार करती, भावनात्मक गहराई में दिलों के धड़कन को महसूस करती हैं।

त्रिशपथगा/इरावती/किताबघर प्रकाशन, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 400

'सृजन' बी-31/41, ए-एस भोगावीर, संकटमोचन, वाराणसी-221005, मो. 9936439963

उपन्यास

## स्त्री मन के तहखानों में झांकते हुए

सुमन श्रीवास्तव

सा

हित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित कवि चंद्रकांत देवताले की चंद्र पंक्तियों ने बरबस ध्यान आकृष्ट कर लिया : 'सिर्फ एक औरत को समझने के लिए/हजार साल की जिंदगी चाहिए मुझे।' यहां कवि स्त्री को अबूझ पहेली नहीं कह रहा, वह उसे हजार साल का जीवन पाकर समझना चाह रहा है और कथाकार राज कमल भी अपने उपन्यास 'फिर भी शेष' के जरिए स्त्री को ही समझना चाहते हैं, लेकिन यह इतना आसान नहीं है, क्योंकि चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसका मन न सिर्फ अथाह होता है, बल्कि अक्सर अबूझ जैसा भी जान पड़ता है, जिसे किन्हीं खोजी सिद्धांतों के आधार पर न तो व्याख्यायित किया जा सकता है, न ही उसके बारे में कोई पूर्वानुमान ही लगाया जा सकता है, क्योंकि हर व्यक्ति अपने आपमें एक अलग और विशिष्ट दुनिया का मालिक होता है। मामला जब स्त्री का हो तो बात अपने आप और भी संश्लिष्ट हो उठती है। राज कमल का उपन्यास 'फिर भी शेष' एक स्त्री को केंद्र में रखकर लिखा जरूर गया है, लेकिन कोई भी चरित्र निर्वात में नहीं उगता, उसका परिवेश और साथ के लोग साथ-साथ चलते हैं, जिससे उसके जीवन का ताना-बाना बुना जाता है। फिर भी, यह एक स्त्री प्रधान उपन्यास है।

'फिर भी शेष' की नायिका हिमानी कुछ तो अपने मातृ परिवार के दबाव में और कुछ बड़ी बहन के स्नेहवश उसकी मृत्यु के बाद उसके बच्चों की मां बनना स्वीकार कर लेती है। एक तर्कातीत क्षण में लिया गया यह निर्णय उसके जीवन में एक अंतहीन

त्रासदी के बीज बो गया। विकट परिस्थिति और मनस्थिति में लिए गए इस निर्णय का निर्वाह सामान्य परिस्थितियों में उसके लिए संभव भी हो सकता था, लेकिन पति के जुआरी-शराबी और निकम्मा होने के साथ परिवार की लानत-मलामतों के बोझ ने हिमानी के जीवन को दुरूह बना दिया। जिन बच्चों के लिए उसने अपना जीवन दांव पर लगाया, वे भी उसे मां का सम्मान नहीं दे सके। हद तो तब हो गई, जब पति ने अपनी भाभी के साथ मिलकर उसके मातृत्व के विरुद्ध कुचक्र रचा। मातृत्व के निर्वाह के लिए कोई भी स्त्री खुद पर हो रहे तमाम अत्याचार बिना उप्फ किए बर्दाश्त कर सकती है, निम्नतम सहनीय स्थितियों में भी जीवन बिता सकती है, लेकिन हिमानी को तो मातृत्व से ही वंचित कर दिया गया। मातृत्व की बलि लेने वाले पति को हिमानी माफ नहीं कर



पाई और निरपेक्ष भाव से उसके पतित्व को नकार दिया, लेकिन बच्चों के प्रति मौसी-मां के कर्तव्य का भरपूर निर्वाह करते हुए तन-मन पर हर तरह के दंश झेलती रही, लेकिन दीनता ओढ़कर किसी के आगोश में नहीं गिरी, चाहे फिर वह पति रहा या फिर आदित्य ही क्यों न रहा हो, जिसके सान्निध्य में मन ठिठक-ठिठक जाता रहा।

ऐसा भी नहीं था कि हिमानी में स्त्री सुलभ जीवन की आकांक्षा ही शेष नहीं रह गई थी। वह भरपूर जीवन जीने की आकांक्षी थी। पति की छलना का शिकार होकर एक बार मन में सखी के पति से बच्चा पाकर सुखदेव को उसकी ही भाषा में प्रत्युत्तर देने का विचार मन में आया तो अंतरंगता के क्षणों में सखी से अपना विचार व्यक्त भी कर गई, लेकिन उसकी असंभाव्यता भी जानती थी। वह मात्र एक विचार था, जिसे वास्तविकता में बदलना ही नहीं था, लेकिन काजल से उसके अंतरंग रिश्ते में तात्कालिक ही सही, वह एक असहजता जरूर पैदा कर गया। स्त्री होकर भी मां न बन पाने की विवशता के बावजूद मातृत्व कामना से जुड़ी कल्पना किसी आत्मीय सखी के सान्निध्य में हो रही हो तो कई बार चिंतन के स्तर पर हम सारी सीमाएं लांघ जाते हैं। अंतरंग सखी काजल कभी-कभी हिमानी को अपना ही विस्तार लगने लगती। ऐसे ही एक तर्कातीत क्षण में हिमानी ने मां बनने के लिए उसके पति को शेयर करने का असंभव विचार उसके समक्ष रख दिया था।

हिमानी के जीवन की अनगिन गर्दिशों के माध्यम से राज कमल ने समाज में व्याप्त पुरुष मानसिकता और स्वाभिमानी स्त्री की कठिनाइयों का अत्यंत विश्वसनीय चित्रण 'फिर भी शेष' में किया है। स्त्री की यह कथा शाश्वत है—वह चाहे स्कूल में प्रिंसिपल का नौकरी के लिए शर्तें रखना हो, चाहे बेटी कहने के बावजूद बूढ़े वैद्य की लोलुप दृष्टि और याचक मनोवृत्ति अथवा बेटे को छुड़ाने के लिए थाने में पुलिस वालों के द्विअर्थी संवाद या फिर पति के संगी-साथी टैक्सी ड्राइवरों के अश्लील वार्तालाप, स्त्री को देह से अलग देखना शायद पुरुषों को आता ही नहीं। देह के रूप में ही देखा जाना क्या स्त्री की नियति है, जबकि

चंद्रकांत देवताले कहते हैं : 'सब कुछ संभव है यदि हासिल कर लें हम महारत/देह से बाहर निकलने की'। राज कमल उन कथाकारों की श्रेणी में आते हैं, जो कम-से-कम अपने उपन्यास की नायिका हिमानी को देह से बाहर निकाल लाए हैं, भले ही पुरुषों की दृष्टि स्त्री देह के इर्द-गिर्द ही घूमती रही। पाठक से खुद को पढ़वा लेने की क्षमता से लैस राज कमल के इस उपन्यास में कहीं कोई अवरोध नहीं है और राज कमल को अपनी रचनाओं को पठनीय बनाने के लिए अश्लीलता के पैबंद भी नहीं लगाने पड़ते।

उपन्यास में नायिका की भांजी के माध्यम से राजनीतिक हलकों की दुरभिसंधियों और उसके अपराधीकरण का यथार्थ चित्रण हुआ है। कैसे राजनीति के खिलाड़ी अपने प्यादों को ही मोहरा बना देते हैं और कैसे अच्छे जीवन की आकांक्षा में भौतिक चकाचौंध युवतियों को भ्रमित कर अपने ही बनाए जाल में फंसाकर उस राह पर डाल देती है, जहां से सही-सलामत वापसी संभव नहीं। सफलता का शार्टकट ढूंढने वाले युवाओं को प्रायः इन्हीं रास्तों से गुजरना पड़ता है। भांजी के माध्यम से विज्ञापन और फिल्म जगत के इतने विश्वसनीय और सटीक चित्र राज कमल ने खींचे हैं कि उनकी विलक्षण दृष्टि और प्रतिभा का कायल हुए बिना नहीं रहा जा सकता। उपन्यासकार का संकेत है कि स्त्रियों को अपनी मर्यादा और आत्मसम्मान बचाने के लिए खुद ही आगे आना होगा। उपन्यास की नायिका हिमानी के जीवन की मरुभूमि में किसी प्राकृतिक जल स्रोत की तरह जब आदित्य आया तो वह ठिठकी अवश्य, लेकिन जीवन के थपेड़ों ने उसे इतना मजबूत और समझदार बना दिया है कि जल्दी ही वह समझ गई कि आदित्य का प्यार भी शर्तहीन नहीं है।

आदित्य से जो सुनने की उम्मीद हिमानी कर रही थी, उसे वे शब्द उससे सुनने को नहीं मिले। आदित्य कितना ही आदर्शवादी क्यों न रहा हो, लेकिन एक बार, सिर्फ एक बार उसका मन रखने के लिए ही सही, कह तो देता कि डॉक्टरी रिपोर्ट चाहे जैसी आए, हम प्यार करते हैं, हम शादी करेंगे, हम साथ रहेंगे, लेकिन आदित्य

ने ऐसा कुछ नहीं कहा। मैं तो खुद कब से तरस रही हूं अपने जने बच्चे के लिए। यह है हिमानी की वह मनःस्थिति, जब उसने अपना घर छोड़ने के बाद आदित्य का संग-साथ भी छोड़ दिया। अपने प्रति उसके तमाम आकर्षण के बावजूद अंततः उससे भी मुक्त होकर हिमानी ने ऊर्ध्वारोहण करते हुए त्याग और परमार्थ का मार्ग चुन लिया। इस रूप में गौर करें तो पुरुष होकर भी स्त्री मन के गवाक्षों पर राज कमल की दृष्टि एकदम सटीक और सूक्ष्मदर्शी रही है। भाषा में सहजता है और अभिव्यक्ति में पारदर्शिता, एकदम निर्मल नीर-सी, जिससे पूरा उपन्यास पढ़कर उसकी तलहटी में पड़ा सब कुछ साफ-साफ दिख जाता है।

जीवन की आपाधापी में फंसी हिमानी के त्रासद जीवन के जरिए 'फिर भी शेष' में स्त्री मन के अबूझ और रहस्यमय संसार में झांकने की कोशिश राज कमल ने की है, जो अपने आपमें एक ऐसा संसार है, जिसकी थाह पाना पुरुष तो क्या, किसी स्त्री के लिए भी उतना आसान नहीं, क्योंकि कमजोर दिखने वाली स्त्रियां अक्सर अपने ऊपर से अनेक तूफानों के गुजर जाने के बावजूद अपनी जगह टिकी रह जाती हैं और ताकतवर दिखने वाले पुरुष टूट-गिरकर बिखर जाते हैं। हिमानी का पति सुखदेव तो मर-खप गया, लेकिन हिमानी बचती-बचाती अनाथ शिशुओं को पालने-पोसने पहुंच गई। विज्ञापन और फिल्म जगत की छलनाओं का शिकार होकर आत्महंता भांजी का बच्चा भी अंततः उसी की गोद में आ गिरा, किसी अनाथ शिशु के रूप में। जीवन तो अमूल्य होता है। दूसरों के द्वारा अवमूल्यन करने से उसका मूल्य कम तो नहीं हो जाता। गलत जगह उसका दुरुपयोग होने देना या उसे नष्ट करना जीवन का अपमान है। इसलिए अपने व्यक्तिगत और दैहिक सुखों से ऊपर उठकर हिमानी ने समष्टि के हित में अपने जीवन के प्रति अंततः न्याय कर दिया।

फिर भी शेष/राज कमल/भावना प्रकाशन, 109ए, पटपड़गंज, दिल्ली-110091/मूल्य : ` 350

सी-69, उपकार अपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेज-1 एक्स., दिल्ली-110091, मो. 09910171166

# समय के बीच ला खड़ा करने की जिद

मधुरेश

ह

मारा समय गहरी सामाजिक-राजनीतिक विद्रूपताओं और विसंगतियों से भरा है। बहुत कुछ अच्छा या तो मर चुका है या मर रहा है और आए दिन उसके मरने की घोषणाएं की जाती रही हैं—इतिहास से लेकर विचार तक सब कुछ। और अनेक युवा कहानीकारों की तरह प्रेम भारद्वाज के पहले संग्रह 'इंतजार पांचवें सपने का' की इन कहानियों में जहां बहुत-कुछ मर रहा है, वहीं कुछ अच्छे और नए का इंतजार भी है। सपने से अच्छा शायद कुछ नहीं होता जो हर बार आदमी को जिंदा रहने का हौसला देता है। बारह कहानियों का यह संग्रह हमें हमारे समय के बीच खड़ा करने की कोशिश और जिद का ही हिस्सा है।

संग्रह की पहली कहानी 'शहर की मौत' में पुराने शहर पर उगता एक नया शहर है। मां की लोरियों की जगह यहां कॉवेंटी जंगल है और चोखा-सत्तू की जगह बर्गर और पिज्जा। कहानी के वाचक दूरदर्शन के कैमरामैन जावेद का यह अपना शहर है—पटना। दस साल पहले तक वह यहीं रहकर पढ़ा-बढ़ा था। अपने समय की सबसे बड़ी विद्रूपता वह यह झेलता है कि जो वह बनना चाहता था, वह न बनकर वह कुछ और बन जाता है। वह बनना चाहता था देश का बड़ा कवि, बन जाता है दूरदर्शन का कैमरामैन। अपने छात्र-जीवन में वह सत्तर के दशक वाले अमिताभ बच्चन की एंग्रियंगमैन वाली छवि का फैन था। शहर में अभी भी कुछ चीजें हैं जो उसे पूरी तरह मरने से रोके हैं। ऐसी ही चीजों में एक गांधी-मैदान है तो दूसरा विश्वविद्यालय के सामने की वह झोपड़ी जिसमें चाची की चाय की दुकान थी और

गहराते संकट के बावजूद अभी भी है। काशीनाथ सिंह की अस्सी वाली पप्पू की दुकान की तरह चाची की अपनी दुकान भी अड्डेबाजी का मुख्य और बड़ा केंद्र है जहां दुनिया-जहान की बातें होती हैं। इराक-अमरीका, अफजल-सद्दाम सबकुछ। देश के प्रधानमंत्री से लेकर सूबे के मुख्यमंत्री तक सब कुछ यहीं तय होते हैं। ग्राहकों से गहरी आत्मीयता वाले चाची के पारिवारिक रिश्ते अपनी अतिरिजित भावुकता के कारण ही जैसे विश्वसनीय नहीं लगते। चौंसठ रुपए बारह आने की बकाया राशि का ताना सुनने कुर्सी थामे मुख्यमंत्री भी वहां पहुंचता है।

जावेद और उसकी टीम, अपनी दिल्ली वापसी से पहले, अगले दिन चाची का बिफरा हुआ रूप देखते हैं। मास्टर प्लान में उसे दुकान को हटाने का नोटिस मिला है। सबकुछ को लीलता बाजार आज एक बड़ी ताकत है। जब वह सौदा करने में गांधी मैदान को नहीं

छोड़ता, चाची की दुकान की विसात ही क्या है। प्रशासन और पुलिस की जो व्यवस्था इस काम को अंजाम देने को की जाती है, 'लग रहा था कि किसी दुश्मन देश पर हमला बोलने, या किसी खूंखार आतंकवादी से मुकाबले की तैयारी है...' (पृ. 21) चाची के अकेले दम अपने बचाव और प्रतिरोध को ही शहर की मौत मानने की कसौटी अंततः फेल हो जाती है। भीड़ से उछला पत्थर जैसे शहर के जिंदा होने का सुवृत बन जाता है।

'जड़ें' आज के जटिल और बहुरूपिया समय में एक ईमानदार और निरीह आदमी की असफलता की टोह लेती कहानी है। बचपन में उसके प्रसंग में अपनाए गए मां के सुरक्षा-उपाय उसे याद आते हैं। प्रेमिका पांच साल में उससे अलग हो गई थी, पत्नी को ऐसा निर्णय लेने में सिर्फ डेढ़ वर्ष का समय लगा। फफूंद लगी ब्रेड पाकर उसके चेहरे पर चमक आ जाती है। अपनी स्वाभिमानी प्रकृति के कारण ही वह इस दशा को पहुंचा है। ईंटों के चूल्हे पर पतीला चढ़ाए औरत का प्रतीक्षारत परिवार उसे गहराई से अपनी ओर खींचता है। बॉस की शिकायत है कि उसे पैकेज के हिसाब से रिटर्न नहीं मिल रहा है। उसे घोड़े चाहिए, गधे नहीं। मनोचिकित्सक को भी वह एक गोन केस लगता है—उसकी अपनी पत्नी की तरह ही। समय की चपेट में आकर वह व्यक्ति से वस्तु में बदल रहा है। गांव में अकेली पड़ी मां के पास उसकी वापसी का विचार ही अंततः उसका जड़ों की ओर लौटना है, जो समय के संक्रमण से लगी बीमारी में उसे अभी भी संजीवनी की तरह लगता है। बोरसी की आग में जैसे अपनी हिकमत से उसने चिंगारियां बचा और छिपा रखी हैं। जड़ों तक पहुंचकर जैसे उसकी बीमारी का भाव



स्वतः तिरोहित हो जाता है।

प्रेम भारद्वाज की ये कहानियां अपने अग्रज लेखकों के गहरे प्रभाव में लिखी होने का बोध जगाती हैं। जैसे 'शहर की मौत' में काशीनाथ सिंह के 'काशी का अस्सी' का प्रभाव बहुत स्पष्ट है, उसी तरह 'फैंटेसी' में निर्मल वर्मा की 'दूसरी दुनिया' की पड़ती छाया को स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। 'बाजार' के रूप में लोक-कथाओं वाला जो राक्षस हमारे सामने खड़ा है, उससे फैंटेसी में ही लड़ा जा सकता है, यथार्थ में नहीं। सात साल की बच्ची शबी दोस्ती का प्रस्ताव रखती है। रिश्ते में आई शादी की तैयारी के बीच, वह अपने कल्पना-लोक में शादी की दुनिया रचती है। उस दुनिया में दूरदर्शन पर देखे गए धारावाहिकों एवं फिल्मों की एक विशिष्ट भूमिका है। अपनी इस दुनिया में 'बाजार' की कल्पना वह एक मायावी शत्रु के रूप में करती है और लोक संस्कृति को उसके प्रतिरोध के एक शस्त्र के रूप में उपयोग में लाती है। प्रभाव के लिए जरूरी नहीं कि अपने अग्रजों की ओर ही देखा जाए। उसे अपनी पीढ़ी के लेखकों से भी ग्रहण किया जा सकता है। 'क्या वह पागल था?' में दुनियादारी के हिसाब में पिछड़ा हुआ नायक भारत के मानचित्र में भारत की खोज करता है। वामपंथी राजनीति की ओर झुकाव ही वस्तुतः उसका पागलपन है। नौकरी और व्यवस्था में सब कहीं वह अपने को अमेल-अनफिट पाता है। बिहार सिंड्राम की अनुगूँजें कहानी में सब कहीं मौजूद हैं—महाराष्ट्र और असम में घटित घटनाओं के रूप में। यहां अपनी पीढ़ी के कुणाल सिंह की चर्चित कहानी 'रोमियो, जूलिएट और अंधेरा' हमारे साथ चलती है जिसका शीर्षक कुणाल सिंह ने भी यान ओत्वेनाशोक के निर्मल वर्मा द्वारा चेक से अनूदित उपन्यास से लिया है।

प्रेम भारद्वाज की ये कहानियां ग्राम-समाज के बदलते यथार्थ को भी अपनी चिंता के केंद्र में रखती हैं। वस्तुतः इनमें वाचक के रूप में जो युवक बार-बार आता है, उसके बचपन का एक बड़ा हिस्सा गांव की स्मृतियों में बना है। 'बथान' में जो बरदहिया गांव है, उसमें वाचक—'मैं'—की ननिहाल थी। बचपन की सबसे मीठी यादें संभवतः ननिहाल की ही



होती हैं। लेकिन यहां 'मीठा' कहने लायक वस्तुतः कुछ नहीं है। शुरू में ही उसकी घोषणा है, 'अंतहीन अमिश्रणता का नाम है बथान...' (पृ. 66) उसकी मां दो बहनों में छोटी होने के कारण ही ननकी थी। अब वर्षों से उस गांव से कोई सम्पर्क ही जैसे नहीं रह गया है। एक दिन अखबार में जब जहानाबाद में पीपुल्स वार द्वारा अड़तीस आदमियों के संहार की खबर वह पढ़ता है, फोन पर अचानक बड़े मामा के बेटे रूपनारायणसिंह द्वारा उस घटना की पुष्टि भी हो जाती है। उसकी आवाज में रामरूप मामा को डिसओन करने जैसा भाव है। यह रामरूप ही वाचक का छोटा मामा है बचपन का 'गुरु', जिससे उसकी ढेर सारी स्मृतियां जुड़ी हैं। बिहार में नक्सलवादी गुटों की सक्रियता एवं प्रसार के कारणों का संकेत कहानी में एक सामान्य सूचना के स्तर पर विन्यस्त है। मामा की पत्नी के देहांत के बाद उनके बेटे रूप नारायण सिंह की हत्या उसकी शादी से दो दिन पहले रणवीर सेना के लोगों द्वारा कर दी जाती है। लखिया के प्रेम का उदात्त विस्तार ही वस्तुतः रामरूप मामा को दलितों का नेता बना देता है। उनकी गतिविधियों को देखते ही उनके सिर पर जिंदा या मुर्दा एक लाख रूपए के ईनाम की घोषणा होती है। रणवीर सेना के अड़तीस आदमियों की हत्या का दुष्क्रम वहीं नहीं रुकता। वाचक को लखिया की चिट्ठी से ही रणवीर सेना द्वारा मामा को कुटी-कुटी काट डालने की

सूचना मिलती है। जिस कामेश्वर मुखिया ने लखिया के पति को जिंदा जलवा दिया था, उसी की अगुआई में यह सब भी होता है। पार्टी के लोगों द्वारा ही मामा का दाह-संस्कार किया गया, क्योंकि परिवार के लोग उन्हें पहले ही मरा मान चुके थे। एक ही जीवन में लखिया दूसरी बार विधवा हुई है। लखिया के पेट में मामा का वारिस पल रहा है। चिट्ठी में वाचक के बरदहिया पहुंचने की आतुर गुहार है। चिट्ठी की आकस्मिकता ही वस्तुतः उसकी अविश्वसनीयता का प्रमाण है। एकदम कोई संपर्क न रह जाने से पता-ठिकाना खोजकर इस तरह चिट्ठी का तर्क उसे अविश्वसनीय बनाता है। आज शहर में रहकर और वर्षों से गांव और बथान से नाता टूट जाने पर वह स्वयं 'बथान' में बदल चुका है। उसके मन का संशय—महानगरीय आपाधापी के बीच लखिया से मिलने जा पाने का—ही वस्तुतः उसके न जा पाने के तर्क में ढल जाता है। स्मृतियों के सम्मोहन पर वास्तविकता भारी पड़ती है।

प्रेम भारद्वाज की इन कहानियों का एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि किसी भी स्तर पर वे अपने को दोहराती नहीं हैं। यद्यपि इनमें से कुछ, 'दंगे में फूल' जैसी कहानियां, दंगे जैसे एक ठोस और यथार्थ मुद्दे पर केंद्रित होने के बावजूद अमूर्तन और प्रयोगशीलता के कारण असंप्रेषणीयता की सीमा तक जा पहुंचती हैं। इसकी अपेक्षा दंगे पर ही केंद्रित 'बीच का रास्ता' अधिक आश्वस्त करती है, जिसमें मां की लाश उठाने के लिए भी आतंकित पड़ोसियों की कायरता के आगे एक पिचहत्तर वर्ष का बूढ़ा ठेलेवाला अकेले दम इस काम को अंजाम देने का साहस दिखाता है। इनमें से अनेक कहानियों में माओवादी राजनीति के संदर्भ विन्यस्त हैं जो समूची राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था पर स्वयं एक टिप्पणी है। 'धंधा' में कलुआ का धंधा—अर्थी बनाना—उसे एक नाटकीय विडंबना की कहानी बताता है। लेकिन इसमें अपनी पत्नी के ही प्रसंग में जिन स्थितियों को बुना गया है उनमें सहजता और विश्वसनीयता का अभाव है जिसके कारण कहानी कोई गहरा प्रभाव नहीं छोड़ पाती। कलुआ जैसे लोग इतने सजग और प्रबुद्ध नहीं होते जो सेना के ताबूत घौटाले में सेना की घूस की

खबर रखते हों।

संग्रह की शीर्षक कहानी 'इंतजार पांचवें सपने का' संगठन और एक समर्पित कार्यकर्ता के अंतःसंबंधों पर केंद्रित है। सोमदा ने पच्चीस साल का लंबा अर्सा अपने सपनों को पूरा करने वाली व्यवस्था के लिए किए जाने वाले संघर्ष में लगा दिया। अचानक एक दिन घर से निकलने पर फिर कभी उनकी वापसी नहीं होती। आलोक धन्वा की जिन पंक्तियों से कहानी शुरू होती है उन्हीं के अनुसार वे शब्दों में कुछ देर के लिए घूमने निकलते हैं और फिर कभी वापस नहीं लौटते। आखिर तक यह संशय बना रहता है कि उनकी यह गुमशुदगी हत्या है या आत्महत्या। किसी की गुमशुदगी एक ऐसी स्थिति होती है—आधी मौत और आधी जिंदगी वाली जिसमें ताउम्र एक टीस झेलने की अभिशप्तता बनी रहती है। उनके इस पलायन को लोग वर्ग-शत्रु की एक लड़की से किए जाने वाले प्रेम का परिणाम भी मानते हैं। एक-एक करके उनके चार सपनों की कथा कहानी में विन्यस्त है—बाकायदा उनसे पूछे गए प्रश्नों के उत्तरों के रूप में। कहानी का वाचक उनका ही युवा साथी मनीष है, जिसके पास उनकी जिंदगी, उसके संघर्ष और असफलताओं की पर्याप्त जानकारी है। चाहें पच्चीस साल पहले की उनकी दुनिया हो या फिर उनकी गुमशुदगी के तत्काल पहले की, वे सब कहीं प्रचलित व्यवस्था में मिसफिट थे। कहानी सपनों और संघर्ष से मोहभंग एवं पलायन तक की यात्रा करती है और संगठन तथा कार्यकर्ता के बीच के संबंध पर सवाल उठाती है। एक समर्पित कार्यकर्ता के प्रसंग में संगठन की भूमिका का सवाल भी इसमें शामिल है।

प्रेम भारद्वाज की ये कहानियां वैविध्य और विस्तार की कहानियां हैं। सामाजिक चिंताओं के प्रति उनकी रचनात्मक सजगता इन्हें महत्वपूर्ण बनाती है। उसी अनुपात में वह आगे की अपेक्षाओं को भी बढ़ाती है।

इंतजार पांचवें सपने का/प्रेम भारद्वाज/सामयिक बुक्स, 3320-21, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 / मूल्य : ₹ 200

372, छोटी बमनपुरी, बरेली (उ.प्र.)-243003  
मो. : 09319838309

कविता

# अभावों के भाव

हरदयाल

के

वल गोस्वामी समकालीन साहित्यिक परिदृश्य में अपने को उपेक्षित अनुभव करते हैं। उन्होंने अपने समीक्ष्य संग्रह की भूमिका में लिखा है—“मैं स्वीकार करता हूँ, मुझको (मुझमें) यह सब—लाइन तोड़कर ठीक कैमरे के सामने आ डटना, सायास अपनी पहचान बनाना, पुरस्कार झपटना, अपनी कविता के लिए अधिक पाठक जुटाना—करने की क्षमता नहीं है या यों कहें, यह सब करने की इच्छा कभी जागृत नहीं हुई; इसलिए साहित्येतर योग्यताएं मुझमें कभी पनप नहीं सकीं। निश्चित रूप से उसका खामियाजा भुगत रहा हूँ।” संग्रह के दूसरे फ्लैप पर उनके परिचय के ये शब्द भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं—“विभाजन के पश्चात् भारत आगमन, जिसे स्वदेश मानने के लिए घोर दबाव पड़ता है। एक पहचानहीन निर्मूल जीवन, निरन्तर अनिश्चितता का माहौल।” उन्होंने भूमिका में अपनी बड़ी बहिन के अपने ज्येष्ठ पुत्र एवं पुत्रवधू सहित एक सड़क दुर्घटना में मरने की भी सूचना दी है और यह भी लिखा है कि “इस दुर्घटना ने मुझे भीतर तक तोड़ दिया।” 1940 में जन्मे वे वरिष्ठ नागरिक हैं। उनकी नई पीढ़ी और अड़ोसी-पड़ोसी भी उनकी उपेक्षा करते हैं। वे अपने को अकेला अनुभव करते हैं। साथ ही वर्तमान परिवेश में व्याप्त लालच, हिंसा और भ्रष्टाचार तथा संभावित मृत्यु की कल्पना भी उन्हें भयभीत करती है। इन सबके बीच वे अपने को तरह-तरह के अभावों से घिरा पाते हैं और यही अभाव जिन भावों को उनके मन में जगाते हैं उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति उनके इस संग्रह की कविताओं में हुई है।

उन्होंने अपने पिता, मां, पत्नी, पुत्र,

पुत्री, बहिन आदि संबंधियों को लेकर उनके मन में जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। उन्हें अपने जन्मदिन पर मां याद आती है—“मां चुपचाप गुजर गई एक दिन/छाती पर दोनों हाथ बांधे/बिना तुलसीदल और गंगाजल के/मुख में पड़े/बिना सुने गीता का कोई श्लोक/या कोई शोकगीत।” (पृ. 27) उनकी मां उनका जन्मदिन मनाती थी। उनकी आकांक्षा है कि उनकी पत्नी उनका जन्मदिन मनाए, लेकिन वह ऐसा नहीं करती; क्योंकि उसे इस तरह के संस्कार नहीं मिले हैं—“पत्नी मां हो सकती थी/अगर पाया होता उसने वह संस्कार/तो क्या होता यह रीता दिन/बासी और उदास/बाकी दिनों की तरह।” (पृ. 28) पत्नी से उनकी अपेक्षाएं पूरी नहीं हुई हैं। संभवतः इसीलिए उन्होंने दाम्पत्य द्वंद्व और प्रेमी-प्रेमिका के ‘कुरुक्षेत्र’ को अपनी कई कविताओं में



अभिव्यक्त यिका है। नौकरीपेशा पति-पत्नी के बीच लगाव और अलगाव दिखावा-भर है। इसीलिए दोनों के बीच एक 'लक्ष्मण रेखा' खिंची हुई है—“वे दोनों/शताब्दियों से एक ही छत के नीचे/एक-दूसरे का/मातम मना रहे हैं/और प्रतीक्षा कर रहे हैं कि/कौन पाएगा पहले मुक्ति/कि पहले कौन होगा शामिल/उस नौटंकी में/जिसे सामाजिक संदर्भों में/सियापा कहते हैं/सचमुच/वह दिन किसके नसीब में है/वे नहीं जानते।” (पृ. 44)

उन्होंने अपनी पुत्री और पुत्र को लेकर भी कविताएं लिखी हैं—“कनकलता” और ‘आदमकद सपना’। वे अपना विश्वास अपने पुत्र को सौंप देते हैं—“कंधों तक आए सपने की/पेशानी चूम ली/थके हुए आदमी ने/कानों में धीरे से कहा—/‘सौंप रहा हूं तुम्हें अपना विश्वास/दिया था जो मुझे मेरे पिता ने/सहेज कर रखना यह धरोहर/कल के लिए’/देखते-ही-देखते सपना जवान हो गया।” (पृ. 19) साथ ही उन्होंने आज की उस स्थिति को भी अभिव्यक्त किया है जिसमें नौकर मालकिन के साथ बलात्कार करता है, उसकी हत्या करता है और घर का कीमती सामान लेकर चम्पत हो जाता है; चिट्ठी लेकर आया हरकारा चिट्ठी लेने वाले बच्चे की हत्या कर देता है; पुत्र अपने वृद्ध मां-बाप की हत्या कर देता है। यह भी आज का यथार्थ है और यह यथार्थ कवि के मन में ‘भय’ (पृ. 49) उत्पन्न करता है। इसलिए वह नौकर को निकाल देता है; बच्चों के द्वारा वृद्ध माता-पिता की हत्या की बात सुनकर ‘बड़ी मुश्किल से बीती थी (उसकी) वह शाम।’ कारण, पुत्र से संबंध-विच्छेद का कोई विकल्प नहीं है।

कवि को अपनी वृद्धावस्था भी सहज स्वीकार्य नहीं है। ‘गीली मिट्टी’ शीर्षक कविता में उसने कहा है कि एक कोठरी में अकेला बूढ़ा व्यक्ति धीरे-धीरे पिघल रहा है जैसे पिघलती है बर्फ। उसके पिघलने की सूचना बाहर बहती हुई पानी की लकीर से मिलती है; लेकिन बाहर बैठे व्यस्त लोगों को जब तक इसकी सूचना मिलेगी तब तक वृद्ध व्यक्ति एक मुट्ठी-भर गीली मिट्टी बनकर रह जाएगा। उसे लगता है कि जीवन का सार यही है कि आदमी अच्छे दिनों के इंतजार में भोर के सपने की तरह बीत जाता है। (पृ. 52) ऐसी स्थिति में कवि हताश है; परिवारजनों से आंतरिक



स्तर पर अलगाव का अनुभव करता है और अपने को अकेला और अजनबी पाती है। स्वाभाविक ही वह मृत्यु को लेकर सोचने-विचारने लगता है; वह मृत्यु से आक्रांत है और उसके मन में मृत्यु-कमाना जाग्रत हो जाती है—“मृत्यु/धीरे-धीरे/सहलाती है जख्मों को/एक दोस्त की तरह/चुन लेती है सारा दर्द/तन का, मन का/और तुम रूठने का बहाना करते हो/फुसफुसाते हो/उल्हाने के स्वर में/कहां थीं अब तक/तुम्हें तो/आ जाना था बहुत पहले/प्रिया की तरह।” (पृ. 55) निःसंदेह यह नकारात्मक सोच है और यह उन परिस्थितियों की देन है जिनकी ओर इस समीक्षा के प्रारंभ में संकेत किया गया है। निःसंदेह किसी भी व्यक्ति के जीवन में सभी चीजें सकारात्मक नहीं हो सकतीं; लेकिन कुछ चीजें सकारात्मक अवश्य होती हैं। व्यक्ति को नकारात्मक चीजों की उपेक्षा करनी चाहिए और सकारात्मक चीजों को महत्त्व देना चाहिए। सकारात्मक सोच ही सुखमय जीवन का मूल मंत्र है।

केवल गोस्वामी की कविताओं में तमाम आत्मकथात्मक तत्त्वों की प्रधानता है। संभवतः इसीलिए उनमें हताशा का भाव प्रधान है। लेकिन उनमें किंचित् आशावादिता भी है जो हमें उनकी ‘आत्महत्या से पूर्व’ शीर्षक कविता की इन पंक्तियों में अनुभव होती है—“राजनीति की भट्टी/लपलपा रही तेज/सर्वस्व होम कर रहे हैं धृतराष्ट्र के पुत्र/जिन्हें अधिकार है देश बेचने का/दलाली के चंद टुकड़ों के एवज/नहीं;

अभी पूरी तरह नहीं मरा/आदमी का जमीर/दबी-दबी विंगारियां हैं शायद राख में/आत्महत्या से पूर्व/कुरेदो उन्हें/शायद आग भड़क जाए/दिखाई देने लगे रास्ता।” (पृ. 95) मानवता का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि भयावह-से-भयावह स्थिति से निकलने का रास्ता समाज के पास होता है और व्यक्ति के पास भी। बस, मनुष्य को आशावादी होना चाहिए।

केवल गोस्वामी की कविताएं अभिधार्थ में आत्माभिव्यक्ति हैं। उनकी आत्माभिव्यक्ति अत्यंत सहज और सरल है। वे अपनी कविताओं में जिन विचारों और भावों को अभिव्यक्ति दे रहे हैं, उन्हें पकड़ने में शायद ही किसी पाठक को कोई परेशानी हो या उसे बौद्धिक व्यायाम करना पड़े। इसलिए कविता का सामान्य पाठक उनसे अवश्य प्रभावित होगा।

सन्नाटा बुनते हुए/केवल गोस्वामी/नेहा प्रकाशन, 295, बैंक इन्क्लेव, लक्ष्मीनगर, दिल्ली-110092/ संस्करण 2012/मूल्य : ` 175

एच-50, पश्चिमी ज्योतिनगर, दिल्ली-110094; मो. 09871328269

## निवेदन

‘पुस्तक-वार्ता’ के समीक्षकों से मेरा निवेदन है कि पुस्तक की समीक्षा भेजते समय ठीक से पुस्तक का ब्यौरा दें यथा—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का पूरा पता, पुस्तक का मूल्य, सजिल्द/अजिल्द संस्करण का ब्यौरा। मुझे प्राप्त समीक्षाओं को संपादित करने में कठिनाई होती है क्योंकि समीक्षक सावधानी नहीं बरतते। यदि भविष्य में समीक्षक मेरे इस विश्वास की रक्षा करेंगे तो मुझे सचमुच सहूलियत होगी।

—संपादक



# समय के बरख्श—लंका की परछाइयां

केवल गोस्वामी

में

आनंद फिल्म के एक संवाद से अपनी बात शुरू करता हूँ। उसका नायक राजेश खन्ना कैंसर-पीड़ित है, पर जो क्षण भी उसके पास हैं उन्हें वह सकारात्मक सोच के साथ दूसरों से मिल-बांटकर जीना चाहता है इसलिए वह कहता है—“बाबू मोशाए जिंदगी लंबी नहीं बड़ी होनी चाहिए।” इसी प्रकार हर लंबी कविता को बड़ी कविता भी कहा जा सकता है? बड़ी कविता के अपने गुण-लक्षण हैं जिनका कविता की लंबाई से कोई संबंध नहीं। गालिब ने दो पंक्ति के एक शेर में वह बात कह दी जिसे सुलतान अहमद फैला कर सौ पृष्ठों में कहना पसंद करते हैं—“हम को मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन/दिल को बहलाने को गालिब यह ख्याल अच्छा है।”

सुलतान अहमद ‘मायावी मध्यलोक’ शीर्षक के अंतर्गत उपशीर्षक ‘देवलोक’, ‘मर्त्यलोक’, ‘संघर्ष’ के अंतर्गत भाषिक चमत्कार और वांछित-अवांछित विस्तार के आधार पर लगभग सौ पृष्ठ से अधिक में इन्हीं प्रश्नों से सूझता है, और वह प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पाता जो उपरोक्त दो पंक्ति के शेर में हमें मिलता है, तो बड़ी और लंबी कविता का अंतर स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

स्वर्ग-नर्क, मर्त्यलोक, आस्था, अनास्था, विश्वास, अंधविश्वास, युद्ध-शांति आदि प्रश्नों पर अनेक बार अनेक प्रकार से रचनाकर्म हुआ है, किंतु इन प्रश्नों पर अभिव्यक्ति की संभावनाएं फिर भी बनी हुई हैं। देखना यह है कि आप किन अछूते पहलुओं को रचना का आधार बनाते हैं, जिन पर आज तक प्रकाश नहीं डाला गया, ना बुद्ध ने, ना कबीर ने, ना अन्य समाजसेवियों ने।

प्रचार माध्यमों से कहीं से भी किसी कोण से भी हमें ऐसे लगता है हम इक्कीसवीं सदी में नहीं पंद्रहवीं सदी की ओर लौट रहे हैं, कोई बाबा, कोई अवधूत, कोई स्वामी आपको अपनी तरह से मुक्ति का मार्ग दिखाता नजर आता है। आप मुक्त हों, न हों वह अपने लिए उतने संसाधन जुटा लेता है कि उसकी सात पीढ़ियों को काम-काज करने की कोई आवश्यकता नहीं। इसलिए जरूरी है कि इस लगातार और सायास फैलते-फैलाते कुहासे में हम घुसें, उस चट्टान से टकराएं भले ही लहूलुहान हो जाएं पर हां कुछ बात तो हो, वह भी असरदार बात। इस दृष्टि से सुलतान अहमद के इस प्रयास को रेखांकित करने की जरूरत है, और यह देखने की भी जरूरत है कि वह कितना असरदार है।

सुलतान अहमद का चार सौ पृष्ठ का कविता-संग्रह पढ़ते हुए इस दिशा में कई प्रश्न उभरते हैं, एक है क्या लंबी कविताओं



को और कतिपय छोटी कविताओं को पढ़ने, ग्रहण करने का ढंग-तरीका एक जैसा होना चाहिए। कथ्य के बिना इन लंबी कविताओं को कहानी की तरह से पढ़ा जा सकता है या पढ़ा जाना चाहिए। क्या आख्यान के बिना भी लंबी कविता अपने बूते पर खड़ी रह सकती है और फिर भी कविता का आभास कराती है, उसे हम निःसंकोच कविता कह सकते हैं। संकलन में लगभग सारी कविताएं इन प्रश्नों को लेकर आपको असमंजस में डालती हैं।

मसलन ‘मोची नहीं हूँ’ कविता कवि का आग्रह कुल मिलाकर इस बात पर है कि व्यक्ति की पहचान जाति के आधार पर न होकर उसके काम के आधार पर होनी चाहिए पर शिल्प के चमत्कार का आग्रह होने पर इस बात का प्रभाव कमजोर हो जाता है। धूमिल ने सार्थक बयान को भी कविता कहने का आग्रह किया था। सुलतान अहमद सूक्तियों के समूह (अनंत) कविता कहने पर बल देते हैं, और इसके अनेक प्रमाण संकलित कविताओं में मिलते हैं, किंतु मुश्किल यही है कि इस सुदीर्घ आशा में पाठक की अच्छी-खासी धैर्यपरीक्षा हो जाती है। उसका काव्य-संस्कार अनेक बार टूटता-बनता है। आज उपन्यास से कहानी और कहानी से लघुकथा और लघुकथा से लतीफे की ओर पाठक आकर्षित हो रहा है वहां कथ्यविहीन सुदीर्घ कविता के साथ पाठक कितनी देर तक दूर तक चल सकता है यह विचारणीय प्रश्न है और उसी के आधार पर कविता की सफलता का दारोमदार है।

सुलतान अहमद के पास गजल कहने का हुनर भी है, अगर मुहावरे में बात कहें तो गागर में सागर भरने का हुनर। यह हुनर शीघ्र ही पाठकों की स्मृतियों का अंग बन जाता है। दूसरे शब्दों में बूंद से जो सार्थक विंब देने की



# मनुष्य के अंतश्चेतना की

## कविताएं

विवेक सत्यांशु

सलाहियत अगर आपके पास है उसे सागर में मिलाकर क्यों पाठक की बेबसी पर आनंदित होने का सुख प्राप्त करते हैं।

कथ्य और रूप के दोहराव की बात में पहले कह चुका हूं। यह दोहराव ऊब पैदा करता है, कविता पढ़ते हुए बीच-बीच में रुकना पड़ता है। यह आभास बराबर बना रहता है कि किसी अन्य कविता में भी यही बात कवि पहले कह चुका है। लंबी कविताओं को स्वतः संपादन का दायित्वबोध अगर कवि के पास है तो रचना अधिक सुखद-सुगठित, सार्थक हो सकती है किंतु संकलित कविताओं में ऐसा प्रायः नहीं हुआ।

एक असें से कविता के पाठकों की उदासीनता भी इस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है कि हम कविता को अधिक बोधगम्य बनाएं। पुरस्कार से अधिक पाठक की चिंता करें। चार सौ रुपए कीमत भी एक पाठक को गहरी दुविधा में डालती है कि वह क्या करे। एक हॉरर फिल्म का विज्ञापन था कि इस फिल्म को प्रेक्षागृह में कोई अकेले देख ले तो जीवित बचा रहने पर उसे पुरस्कार मिलेगा, इस संकलन को पढ़ते हुए भी ऐसा विचार बार-बार उभरता है। मैंने इसे मनोयोग से पढ़ा और अब आपसे बात कर रहा हूं, कम ही सही इसका भी एक पाठक वर्ग होगा जो यह साहस दिखाएगा। इन कविताओं की उपेक्षा हरगिज नहीं की जा सकती, हां बेलाग और निष्पक्ष बात जरूर होनी चाहिए।

लंका की परछायाँ/सुलतान अहमद/प्रकाशन संस्थान-4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 400

जे-363, सरिता विहार, मथुरा रोड, नई दिल्ली-110076, मो. 9871638634

अ

रस्तू ने कहा है कि 'काव्य का लक्ष्य एक उच्चस्तरीय आनंद प्रदान करना है।' किंतु आज के समय में जिस तरह से काव्य का सृजन हो रहा है, इससे कविता की काव्यात्मकता भी नष्ट हो रही है और आनंद की उच्चता का भी क्षरण हो रहा है। आज ज्यादातर लोग खराब कविता लिख रहे हैं और उसे अच्छी कविता की तरह प्रचारित कर रहे हैं, ऐसे ही लोग 'कुकवि' कहलाते हैं। भामह ने लिखा है— 'कविता नहीं करने से न तो अधर्म होता है, न रोग, न दंड। किंतु कु-कविता तो साक्षात् मरण है।

हरीश आनंद की कविताएं सिर्फ समकालीन कविता के मैनरिज्म को ही नहीं तोड़तीं, बल्कि जीवन के यांत्रिक मैनरिज्म को भी तोड़ती हैं, जीवन की जड़ता पर प्रहार करती हैं और जीवन में नए अर्थों की तलाश भी करती हैं।

हरीश आनंद का कविता-संग्रह 'नियति का यायावर' मनुष्य के जीवन के अनेक आयामों को गंभीर ढंग से उजागर करता है। आज मनुष्य भौतिकता के चकाचौंध में भटककर आत्म साक्षात्कार नहीं कर पाता। वह चेतना के स्तर पर, विचार के धरातल पर दरिद्र होता जा रहा है। हरीश आनंद की कविताएं उसको विचार के स्तर पर समृद्ध करती हैं।

ये कविताएं तात्त्विक चिंतन और दर्शन की कविताएं हैं, मनुष्य की अंतश्चेतना से साक्षात्कार कराती ये कविताएं जीवन में नई जमीन की तलाश करती हैं।

इसकी भूमिका में हरीश आनंद ने लिखा है—हमारे विचारों की भ्रूणहत्या न हो

जाए ऐसे में कविताएं ही मुझे नियति से लड़ने के लिए यायावर बना देती हैं। तब यही कविताएं मेरी उम्र और समय के बीच सेतु बन जाती हैं। और एक संवेदनात्मक भूमिका में पुनर्खोज में मां से मंगलसूत्र तक के विभावों, अनुभावों के संयोगों के नैनोमीटर से मन की ओजोन परत की छत से लिखित शब्दों की यायावरी कर आती हैं।'

जीवन में अपने समय की पुनर्खोज करती ये कविताएं जीवन की नियति के अनेक आयामों को उद्घाटित करती हैं। जीवन के प्रचलित अर्थों से अलग जीवन में नए अर्थों की तलाश करती हैं।

अपनी 'अर्थ' कविता में वे कहते हैं— "घटनाओं के/चक्रवात में/फंसे शब्द/ अपनी अर्थों के लिए/चीख रहे हैं/और कह रहे हैं/हम तुम्हारी कुंठाओं को/अनूदित नहीं कर सकते।"



आत्मा परमात्मा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि रखते हुए भगवान से कवि सीधे प्रश्न करते हैं—‘भगवान तुम अकेले/कब मिलोगे/ जब बस मैं हूंगा और तुम/और हमारे हाथ मेरे जुड़े हुए/और तुम्हारे छायादार पेड़ की तरह/उठे हुए आशीष में/बताओ तो/कब नहीं होंगे ये पुजारी/और ये डरावनी आवाजें/घंटों-घड़ियालों की/और धिनौनी फुसफुसाहटें/स्वार्थों की।’

सारे स्वार्थों से ऊपर उठकर पवित्र भाव से, पवित्र अनुभूति से साक्षात्कार ये कविताएं कराती हैं। धार्मिक आडंबरों, रूढ़ियों, पुजारियों पर प्रहार भी ये कविताएं करती हैं, आज जिसकी बेहद जरूरत भी है। क्योंकि आज के समय में धर्म के नाम पर जितनी लूटपाट मची है, जितनी धर्मांधता आज मची है इससे पहले कभी नहीं हुआ।

स्त्री के प्रति हरीश आनंद की चिंता मानवीय है। जबकि अकविता के कवियों ने औरत की देह को सिर्फ चीरा-फाड़ा है।

यहां तक कि धूमिल जैसे चर्चित कवि ने भी औरत को सिर्फ ‘देह’ ही माना है— ‘औरत आंचल है, जैसा कि/लोग कहते हैं, स्नेह है/किंतु मुझे लगता है—/इन दोनों से बढ़कर/औरत सिर्फ ‘देह’ है’।

अपनी एक अन्य कविता में भी धूमिल ने स्त्री के पुरुषार्थ को चुनौती देते हुए उसकी अस्मिता पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है—‘हर एक का दरवाज/खटखटाया है...मगर बेकार/मैंने जिसकी पूछ उठाई है/उसको मादा पाया है—’

यह कविता स्त्री के अस्तित्व को सिर्फ नकारती नहीं, बल्कि उसके अस्मिताबोध पर आक्रामक ढंग से चोट भी करती है। स्त्री के प्रति हरीश आनंद की संवेदना है—‘मुझे नहीं चाहिए बार-बार की मौत/और प्रसव वेदना के क्षण/जिन्हें जीने के लिए/मुझे हर बार मरना पड़ता है/एक लड़के की सनक में/मुझे कब तक फुसलाते रहोगे?/अब और/सहना नहीं चाहती/प्रसव वेदना के वे क्षण’।

‘नियति का यायावर’ की कविताओं का व्यापक संसार है। इसमें रागात्मक तत्त्व और उदात्त सौंदर्यानुभूति भी है जो व्यापक सामाजिक पक्षधरता से जुड़ी हुई है। आज के निर्मम और भयावह समय में बाहरी



भौतिकता दिखाई पड़ती है, किंतु विचार के स्तर पर मनुष्य दरिद्र है। हरीश आनंद की कविताएं मनुष्य को वैचारिक धरातल पर समृद्ध एवं चेतना के स्तर पर संपन्न बनाती हैं। आज के यांत्रिक युग में सांसारिकता में फंसे मनुष्य के मुक्ति की छटपटाहट और बेचैनी प्रभावशाली रूप में इन कविताओं में दिखाई पड़ती है। इसीलिए इन कविताओं में अनुभूति की गहनता है, अछूते संदर्भों की दुर्लभ संवेदना है, और यही इन कविताओं की मौलिकता और इनकी विशिष्ट पहचान भी है।

दर्शन और चिंतन से लैस ये कविताएं जीवन की सार्थकता का समग्र रूप से अनुसंधान भी करती हैं, लेकिन जनसाधारण को ये कविताएं कितनी बोधगम्य होंगी? यह एक यक्षप्रश्न रह ही जाता है?

पुस्तक की साजसज्जा और कवर का चित्र भी एक नए सौंदर्यबोध को उद्घाटित करता है।

**नियति का यायावर** / हरीश आनंद / राजकमल प्रकाशन, 1वीं, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 200

14/12, शिवनगर कॉलोनी, अल्लापुर, इलाहाबाद-211006 मो. 9889155306

## निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्त्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के काँपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिंदा एक लाख पृष्ठ ‘हिंदीसमयडॉटकॉम’ नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएंगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अंतर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत ‘हिंदीसमयडॉटकॉम’ पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा, जिनका काँपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। ‘हिंदीसमयडॉटकॉम’ में म.गां.अं.हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री—यथा संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

‘हिंदीसमयडॉटकॉम’ इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा, जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएं अपनी समग्रता में, ‘डायस्पोरा’ सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक **रीडरडॉटकॉम** (www.classicreader.com) और **गुटेनबर्गडॉटऑर्ग** (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं।

इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएं। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केंद्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

# बघनखा : जीवन और सौंदर्य की कविताएं

सुभाष शर्मा

२

याम किशोर सिंह ने कई दशकों तक हिंदी का अध्यापन किया, मगर हिंदी में कविता रचने का काम काफी विलंब से शुरू किया। फिर जो रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में छिटपुट प्रकाशित होती रहीं, उन्हें संग्रह का रूप दिया 2011 में सेवानिवृत्त होने के कई वर्षों के बाद। मगर देर आए, दुरुस्त आए। उनका काव्य-संग्रह है 'बघनखा' जिसकी पहली कविता इसी शीर्षक से है और महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें बचपन की संजोई यादें हैं, विशेषकर मां के स्मृति-चिह्न और पिता की हस्तलिपि को मिटाने की अभिव्यक्ति विलक्षण है। आखिर क्यों कवि मां के द्वारा गले में बांधे गए बघनखा का सोना जेब में रखता है? क्यों वह मां-बाप के द्वारा दिए गए संगीत के स्वर को किराए पर दे रहा है? पिता के द्वारा लिखे गए उसके जन्मदिन वाली डायरी से क्यों पिता की हस्तलिपि मिटा रहा है वह? क्यों वह मां-बाप से उन्नत होना चाहता है। शायद वह पुरानी रीतियों, सामंती प्रथाओं से मुक्त होना चाहता है :

मां/तुमने/काले धागे/सोने से मड़ा/जो बघनखा/मेरे गले में बांधा था/उसका सोना/खाली जेब में रखता हूँ/बघनखा/नंगे हाथ में! ××× सूखे कुएं के पाट पर खड़ा हूँ/और उन्नत होना चाहता हूँ।

इतना ही नहीं, कवि 'इक्कीसवीं सदी के लिए एक कथा' नामक कविता में आज के नए-नए राजाओं की कुनीतियों का पर्दाफाश करता है जो मंत्रियों की सही सलाह मानने की बजाय खुद उन्हें ही बदल देते हैं। सो चतुर चालाक नया मंत्री विरोधियों के जनस्वर को राजा की 'जय-जयकार' बताता है। यह कैसी विडंबना है कि विभिन्न राज्यों में दलित-पिछड़े

समुदायों के नेता मुख्यमंत्री बने, मगर उन्होंने जनता की आवाज नहीं सुनी और अपने स्वार्थों की पूर्ति में लिप्त रहे :

“ये क्यों शोर मचा रहे हैं?/मंत्री ने झुककर कहा—/‘अन्नदाता!/ये भूखे हैं/रोटियाँ मांग रहे हैं!'/मंत्री को बदलकर तत्काल/राजा ने आज्ञा दी—/भंडार का द्वार खोल दिया जाय!'/चोर द्वार/भंडार का खुला/पर भूखों के लिए नहीं।

‘जहांपनाह!/ये नंगे हैं/कपड़े चाहते हैं’/मंत्री फिर हटाया गया/और राजा ने हुक्म दिया—‘खजाना खोलकर/कपड़ों का इंतजाम किया जाय!'/कुछ देर के लिए खजाना खुल गया/पर नंगों के लिए नहीं।

मनोमुग्ध राजा/अपने पके लाल होठ/और



चेहरे की नर्म हरी रेखाओं से/भुखमरी—महामारी में/सूखे में, बाढ़ में/हत्या-बलात्कार में/सरकारी इशतहार में/किताब और अखबार में/मीठी मुस्कान बिखेर रहा है। (पृ. 14-16)

यह धूमिल, नागार्जुन और मुक्तिबोध की क्रांतिकारी परंपरा को बढ़ाने और समृद्धि करने वाली कविता है जिसमें समकालीन यथार्थ अपनी पूर्ण विद्रूपता में प्रकट होता है और हमें बेचैन करता है। यह मखमली घास पर बैठकर पगुराने वाली या चमत्कारी या ठकुरसुहाती कविता नहीं है जो कई युवा और वृद्ध कवि रच रहे हैं बल्कि वह नए विचार के लिए कड़वी खुराक है जो बेमियादी बुखार जैसी बीमारी के लिए मुफीद दवा है।

‘तुम आओ’ कविता में कवि आह्वान करता है आने को भिन्न-भिन्न रूपों में। इसमें ताजा बयार की तरह टटकी उपमाएं दिल को छू लेती हैं :

तुम आओ/जैसे आग में जलकर-जलाकर/रोटी आती है/तुम आओ/जैसे दाना देखकर/भूखी आंखों में चमक आती है/तुम आओ/जैसे बच्चे के लिए/मां का दूध उतर आता है ××× तुम आओ—/जैसे मादल के ताल पर/संताली त्योहार आता है ××× तुम आओ/जैसे पहली बार/मांग में सिंदूर आता है/तुम आओ/जैसे गर्भ में जीवन आता है (पृ. 19-20)

इस कविता में सत्रह तरह की उपमाएं हैं जो सरल दिखती कविता को बड़ी कविता बना देती हैं। ऐसे आह्वान में एक ओर प्रकृति है (खेतों में अंकुर फूटना, सागर की लहरों का किनारे आना, अंधेरे में जुगनु, आषाढ़ में आकाश में मेघ का आना), तो दूसरी ओर साक्षात् जीवन के अद्भुत क्षण हैं (आग में जलकर रोटी, दाना देखकर आंखों में चमक,

मां के स्तन में दूध, आंखों में आंसू, मादल के ताल पर संताली त्योहार, मांग में पहली बार सिंदूर, गर्भ में जीवन, उनींदी पलकों में नींद। यह कविता उपमा और अर्थ-विशिष्टता के कारण अतुल्य है, अस्तु समकालीन कविता में अपना स्थान बनाने में सक्षम भी है।

एक अन्य कविता 'अमीन आता है' राज-समाज की खोखली व्यवस्था को पोल खोलने में सक्षम है :

अमीन आता है/जमीं नापता है ×××  
नाप लेने को/बाड़ी-झाड़ी भी/दस कदम और  
छीन जाता है (पृ. 28)

यह अमीन राजसत्ता का प्रतीक है जो खेती-बाड़ी की नाप-जोख करता है और किसानों की ऐसी-तैसी करके उनकी जमीन कम कर देता है, उनसे रिश्वत लेता है और उनके बीच झगड़े शुरू कर देता है। गांव में सब जानते हैं कि कौन जमीन किसकी है मगर राजस्व विभाग के सरकारी कर्मचारी कुछ और दर्ज कर देते हैं जिसे दुरुस्त कराने में जनता को समय, श्रम, धन आदि खर्च करना पड़ता है। कवि ऐसे जन-विरोधी, समाज-विरोधी अमीन का कच्चा चिट्ठा खोलता है और जनता को सचेत करता है।

आदिम जनजाति पहाड़िया पर एक लंबी कविता 'पहाड़िया' नाम से है जो उनकी ज़िंदगी की महागाथा है जिसमें भुखमरी है, तन पर थोड़े से कपड़े हैं, साहूकार-सोनार का शोषण है :

'टकटकी लगाता है सोनार/कभी छोटे तराजू पर/कभी खुले सीने पर, बाजू पर/इस तरह सरेआम बचा-खुचा लाज भर/देह का मटमैला चांदी पिघलता है/पहाड़ी से उतरकर/ हाट-बाजार में।' (पृ. 40)

लोकतंत्र में चुनाव जैसे महापर्व का विशेष महत्त्व है। मगर कैसे उसे चार विभिन्न दलों के नेता (नूनू काका, फूल काका, पंडित काका और लाल काका) देखते हैं तथा इस्तेमाल करते हैं, इसे 'चुनावी मचान पर' कविता में बखूबी देखा जा सकता है। मगर अफसोस कि जनता भी पथभ्रष्ट हो गई है और जो भी मचान पर आते हैं, उनका स्वागतगान जनता गाती है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण कविता है 'संताल-संग्राम गाथा' जो सिद्धों, कानू, चांद और भैरव के संघर्ष की कहानी कहती है जिन्होंने सबसे पहले 1855 में संताल विद्रोह



किया था। कवि पूरे जोश से कहता है कि उसे विद्रोह नहीं, पहली क्रांति कहिए स्वाधीनता संग्राम की। संतालों ने अंग्रेजों के अलावा सूदखोरों के खिलाफ भी संघर्ष किया था एक ही साथ। फिर कवि ने साक्षरता अभियान के लिए 'लिखा-पढ़ी शुरू करो' नामक सार्थक कविता लिखी है :

'लिखा-पढ़ी शुरू करो/पढ़ो कि हल कुदाल से/न काम सभी बन सके/लिखो कलम-किताब से/कि दाम भी तो बन सके ××× आदमी से आदमी की/एक कड़ी शुरू करो/लिखा-पढ़ी शुरू करो।' (पृ. 100-101)

अगली कविता 'बचेंगे, भाई बचेंगे' में कवि पूंजीपतियों-उद्योगपतियों के विरुद्ध आवाज उठाता है, नंदीग्राम-सिंगूर की घटना का भी जिक्र करता है और बताता है कि अब टाटा-बिरला-अंबानी जैसे उद्योगपति आलू, परवल, खूबानी बचेंगे, फैशन की चीजें बचेंगे, कपड़ा-लत्ता, जूता-चप्पल बचेंगे और छोटे-मोटे दुकानदार कुछ नहीं कर पाएंगे। फिर कवि प्रकृति की ओर मुड़ता है और 'गाती है चिड़िया' कविता में मनमोहक अंदाज में कवि कहता है :

खंभे के तार पर/बिजली की डार पर/आती

है चिड़िया/गाती है चिड़िया। (पृ. 107)

फिर कवि याद दिलाता है कि गणतंत्र दिवस 2010 के अवसर पर अंडमान की 'बो' भाषा बोलने वाली अंतिम वृद्ध महिला बोआ मर गई और उसके साथ वह भाषा भी मर गई। मगर कवि आशावान है :

'पर बोआ का अर्थ जमीन है/ और जमीन जीवित रहती है' (पृ. 110)

इस संग्रह की अंतिम कविता है 'बांकधार' जिसमें बिहार की कोसी नदी पर बने बांध के कारण बांकधार तथा अन्य धाराएं विलुप्त हो गईं। स्थानीय एवं पारंपरिक ज्ञान को न मानने के कारण कोसी बांध योजना बुरी तरह असफल रही :

कोसी की असंख्य रक्तवाहिनी धमनियों में/इसी बांकधार की तरह/कोसी-योजना की चपेट में/विसूख गई कुछ धाराएं/कोसी की विकरालता के विलुप्त हो गए नैसर्गिक समाधान/निर्जल नहरों का बिछ गया निरर्थक जाल/बन गए कुछ बलुआहा खेत, नेता, ठेकेदार। (पृ. 111-112)

इस प्रकार इस संग्रह की कुल इक्यावन कविताओं में करीब दो दर्जन कविताएं उल्लेखनीय हैं जिनकी चर्चा भविष्य में अवश्य होगी। कवि ने 'कविता के लिए कवि' नहीं रची है, बल्कि जीवन के लिए जीवन की कविता रची है जिसमें भाषा में रवानी है, मिट्टी का सांधापन है, शोषण के कई रूप हैं और प्रतिरोध का स्वर है, और है आशा की नई किरण। जाहिर है कवि जनता से जुड़ा है और उनके संघर्षों में उनके साथ हैं और इसी कारण ये कविताएं परिपक्व हैं तथा बिना किसी विचारधारा के आरोपण के सार्थक जीवन-मूल्यों और दृष्टि-संपन्नता से परिपूर्ण हैं। मगर कई जगह प्रूफ की गलतियां भी हैं जो खटकती हैं। कुछ कविताएं सामान्य हैं मगर यह संग्रह निःसंदेह पठनीय और संग्रहणीय है।

बखनखा/श्याम किशोर सिंह/प्रकाशन संस्थान,  
4268-बी/3, अंसारी रोड, नई दिल्ली-110002/  
मूल्य : ₹ 150

कमिश्नर, मुंगेर (बिहार)

# स्त्री जीवन के बोल-अबोल

सूरज पालीवाल

प्र

ज्ञा रावत का पहला कविता-संग्रह है 'जो नदी होती'। इस संग्रह की तमाम कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित और चर्चित हो चुकी हैं। इसलिए उनकी कविताओं पर बात करते समय इसका ख्याल विशेष रूप से रखना होगा कि हिंदी में जो कवयत्रियां कविताएं लिख रही हैं, उनमें इन कविताओं का क्या महत्त्व है? कहना न होगा कि हिंदी-कथा-साहित्य के स्त्री-लेखन और हिंदी कविता के स्त्री-लेखन में गहरा अंतर है। कथा में स्त्री-विमर्श के नाम पर देह-विमर्श को प्रमुखता दी गई है तो कविता में स्त्री-संघर्ष को। यह विभाजन कविता को अधिक प्रामाणिकता प्रदान करता है। कात्यायनी, अनामिका, निर्मला पुतुल, निर्मला गर्ग, शरद सिंह, सविता भार्गव या सविता सिंह जैसे अनेक नाम हैं जो प्रज्ञा रावत की तरह स्त्री-संघर्ष की बहुविध कविताएं लिख रही हैं। ये कविताएं तथाकथित स्त्री-विमर्श से कोसों दूर हैं या कहें कि स्त्री-जीवन के बहुत छोटे लेकिन महत्त्वपूर्ण पक्षों का उद्घाटन इन कविताओं में इस तरह हुआ है कि स्त्री-विमर्श का समानांतर रूप सहसा गहरे तक रूपायित हो उठा है। ये अकारण नहीं हैं कि प्रज्ञा रावत की कविताओं में घर-परिवार, दादा-दादी, माता-पिता, विवाहित और अविवाहित लड़कियां, काम करनेवाली औरतें तथा खेतों में बीज छींटतीं और घरों में कपड़े पछींटतीं औरतें बार-बार आकर जीवन का सघन चित्र बनाती हैं। प्रज्ञा रावत की कविताओं को पढ़ते हुए गहरी उदासी मन पर तारी होती जाती है, एक स्त्री के अनेक दुख एक होकर इन कविताओं में छा जाते हैं। ये कविताएं स्त्री-विमर्श से दूर स्त्री-जीवन की कविताएं हैं, जिन्हें बार-बार पढ़ा जाना चाहिए।

अपनी सारी कविताओं में प्रज्ञा रावत

बहुत कम जगह मुखर होती हैं। अधिक मुखरता कविता को लाउड बनाती है इसलिए वे इससे बचती हैं। लेकिन उनमें यह समझ भी है कि कई बार मुखर हुए बिना कविता ठंडी हो जाती है। मुखरता उसमें ताप भरती है जाहिर है कि यह ताप जीवन-संघर्षों का ताप ही है। उनकी एक कविता है 'सबसे कह दो'। कविता के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि यह कविता चुप से कहने की नहीं है, यह तो सार्वजनिक घोषणा जैसी कविता है। कविता है 'सबसे कह दो/वो आज कहीं नहीं जाएगी/गुनगुनी धूप में बैठकर/धीरे-धीरे बालों में तेल/लगाएगी/आज वो बरसों से टलते रहे/प्रेम-पत्र एक-एक कर लिखेगी/और जोर से झूलते/हुए आसमान छू आएगी/आज वो फूलों को अपने/हाथों से छुएगी/छत पर ठंडे बिस्तर में लेटकर/तारों को चलते हुए देखेगी/और धीमे-धीमे आकाश में चित्र बनाएगी/आज वो आंख बंद कर/अपने कंठ से/सारी धरती को



तर कर देगी।' कविता का आरंभ स्त्री के दैनंदिन जीवन की भागदौड़ के नकार से है। कामकाजी औरतें रात-दिन घर और नौकरी की व्यस्तता में अपने लिए एक पल भी नहीं जी पातीं, पल, दिन और साल न जाने कहां गुजर जाते हैं लेकिन उन्हें अपने बारे में सोचने का समय ही नहीं मिलता। कितने जरूरी काम कल-परसों पर टलते जाते हैं और वह इन्हीं टलते कामों की फेहरिस्त के बीच अपना सुख तलाशती बूढ़ी हो जाती है। यह कविता ऐसी ही स्त्री के उस उद्घोष से शुरू होती है, जो आज सबसे कहकर अपने लिए जीना चाहती है। अपने मन की सारी गांठों को खोलना चाहती है, अपने अंदर छुपी सारी एषणाओं को जीना चाहती है। इस कविता की बड़ी बात यह कि वह सबसे कहकर यह सब करना चाहती है, चुपचाप नहीं। अंत से पहले कविता में उत्साह, उमंग और जीवन के प्रति भरपूर प्रेम है, निराशा और कुंठा कहीं भी नहीं है। वह उन सब कामों को आज पूरा कर लेना चाहती है, जो किसी भी स्त्री को जीवंत बनाए रखने के लिए जरूरी है। पर कविता का अंत बहुत ही मार्मिक है 'आज वो आंख बंद कर, अपने कंठ से, सारी धरती को तर कर देगी।' खुली आंखों में स्त्री-जीवन के सपने हैं, जिनमें जीवट छलछला रहा है पर आंखें बंद करते ही ऐसा अपार दुख है जो सारी धरती को तर करने के लिए काफी है। आंखें बंद कर ऐसी स्त्री का कंठ स्त्री-संघर्ष के उस यथार्थ को गाएगा, जो सारी इच्छाओं के पार है। मन की बरसों की चाहतों को पूरा करने के बाद वह दुख को गाना क्यों चाहती है? उसे लगता है कि यह दुख ही उसका अपना है, यही स्त्री-जीवन की वास्तविकता है, कोई सामाजिक स्त्री इस दुख से मुंह मोड़कर सुख की इच्छाओं में बिचर नहीं सकती। कविता का छोटा और

बड़ा होना इस बात पर निर्भर है कि उसमें जीवन यथार्थ कितना सघन और व्यापक है। कम शब्दों में अपने कंठ से निकले दुख में सारी धरती को भिगो देना, कविता को बड़ा बनाता है।

ऐसी ही एक दूसरी कविता है जो लड़कियों को तमाम प्रतिबंधों से मुक्त करने की इच्छा से प्रेरित है। प्रज्ञा की विशेषता यह है कि वे लड़कियों के लिए चांद-तारे नहीं मांगतीं बल्कि उन स्वतंत्रताओं को चाहती हैं, जो लड़कों को इसी समाज में निर्बाध रूप में मिली हुई हैं। समाज, घर और परिवारों में लड़कों और लड़कियों के बीच जो भेद है, यह कविता उस भेद को समाप्त करने की जिद की कविता है। इसलिए प्रज्ञा लिखती हैं 'एक रात सूरज उगता देखेंगी/सिर्फ लड़कियां/एक रात पूरा मन धो लेंगी/सिर्फ लड़कियां/एक रात सचमुच सब कुछ/भूल जाएंगी सिर्फ लड़कियां/एक रात सचमुच बेखौफ/हो जाएंगी सिर्फ लड़कियां।' कविता कई स्तरों पर विशिष्ट बनती है। एक तो सिर्फ शब्द का प्रयोग लड़कियों के लिए हुआ है यानी आज सिर्फ लड़कियां ये सब करेंगी, जो आज तक वे नहीं कर पाई हैं। रात में सड़कों पर बेखौफ घूमना लड़कियों का सपना है, जिसे प्रज्ञा कविता में पूरा करती हैं। काश यह सपना जीवन में कभी सच हो पाता। अभी हाल ही दिल्ली में घटी घटना से पूरा देश दहल उठा, तमाम शिक्षा और तकनीकी विकास के बाद हम जैसे ही जानवर हैं, जैसे प्रागैतिहासिक काल में थे। इस कविता को पढ़ते हुए मेरे मन में उस अनाम लड़की का दुख गहराता गया, जो एक ऐसी ही लड़की थी जिसने बेखौफ घूमने की ठानी थी। ऐसे समय में यह कविता लड़कियों की चिंता से भर देती है और हम बार-बार इस कविता को पढ़ते हुए प्रज्ञा रावत के साथ होते हैं कि यह समाज जितनी जल्दी हो सके बदले और लड़कियां बेखौफ रात में भी सड़कों पर घूमें। इस कविता की ये पंक्तियां 'एक रात पूरा मन धो लेंगी/सिर्फ लड़कियां' सामान्य नहीं हैं। पूरा मन धो लेने से आशय यह कि अब तक उनके मन पर जो भय के निशान थे, उनसे उपजे दुख थे, आज लड़कियां सड़कों पर बेखौफ घूमते हुए सब कुछ धोकर साफ कर लेंगी। मन का धोना सिर्फ पवित्र हो जाना भर नहीं है बल्कि अव्यक्त कुंठाओं और चिंताओं

से मुक्ति भी है। प्रज्ञा ऐसा सपना देखती है इस देश की लड़कियों के लिए, इसलिए आचार्य शुक्ल ने कहा था कि हर समाज को कविता की आवश्यकता होती है—इस समाज को ऐसी ही कविता की आवश्यकता है जो सपने दिखाए। जो समाज सपने नहीं देखता वह मर जाता है। प्रज्ञा इस समाज को झकझोरकर लड़कियों के सपने की बात बताती है। प्रज्ञा की अधिकांश कविताओं में एक स्त्री बैठी है, जो अपने अंदर-बाहर के भय और दुख को बार-बार किसी-न-किसी रूप में व्यक्त करती है 'याद आ गई बऊ/बाऊजी की नानी जो अपनी/धोती एक-एक घंटे फचीटती थी/शायद फचीटती हों पति का/असमय छोड़कर चले जाना।' एक विधवा स्त्री का दुख। देखना यह कि दुख कहां व्यक्त होता है धोती पर। पति के चले जाने पर विधवा स्त्री अपनी ही धोती को बार-बार फचीटती है, फचीटने को और कुछ उसके पास नहीं है। यह समाज विधवा स्त्री को जीते जी मार देता है। उपेक्षा की शिकार औरत अपनी ही धोती को उछाल और पीट रही है केवल साफ करने के लिए नहीं बल्कि मन के दुख को कम करने के लिए, अकेलेपन को दूर करने के लिए। उम्र के इस पड़ाव पर बाउजी की नानी और कर भी क्या सकती है।

'अविवाहित रह गई लड़कियों के नाम' पर हिंदी में शायद ही कोई कविता हो। ऐसे विषयों पर कविताएं नहीं लिखी जा रहीं। प्रज्ञा ने इस अछूते विषय पर कविता लिखकर यह बता दिया है कि हमारे अपने ही समाज में कितनी लड़कियां हैं जो इस प्रकार की उपेक्षा का शिकार हैं, पर कोई इस विषय में उनसे बात तक करने को तैयार नहीं है। जिम्मेदारियों से लदी निम्नमध्यवर्ग और मध्यवर्ग की ये अविवाहित लड़कियां समय के साथ बूढ़ी होती जा रही हैं, न इनके पास अपने जीवन के सपने हैं और न सपनों का राजकुमार। घर-परिवार और समाज की लाज और मर्यादा की भेंट चढ़ती ये लड़कियां अपनी उम्र से बड़ी और बूढ़ी हो जाती हैं। इसलिए प्रज्ञा कहती हैं, 'तुम कहां कर पाई कभी प्रेम किसी से/प्रेम में पड़ने की अपनी उम्र में/बेलती रहीं अपना मन गोल-गोल/रोटियों में और सेंक दी अपनी चटख/कहने को तो बहुत कुछ है लड़की/पर राज की बात तो ये हैं कि/तुम्हारा मन सहलाने

नहीं आएगा/कभी कोई।' और फिर राय देते हुए कहती हैं 'मेरी बात मानो/अबकी बारिश फैला अपने/सतरंगी पंख थिरक लेना जी भर/बेसाखा बेसुध।' पहले यथार्थ और फिर सपना—ये प्रज्ञा की कविताओं का स्थायी भाव है। केवल दुख में रहने और जो नहीं मिला उसके दुख में जीवन भर दुखी होने से बेहतर है कि कुछ अपने मन का कर लिया जाए। बारिश अपने आप में उमंग और उत्साह का प्रतीक है, सूखा मन भी हरा-भरा हो जाता है। ऐसे मौसम में सतरंगे पंख फैलाकर बेसाखा और बेसुध थिरकने की नसीहत देकर प्रज्ञा उन निराश हो चुकी अनाम लड़कियों में जीवन की उमंग भरती हैं। कविता दुख से उपजती है पर दुख में समाप्त नहीं होती। जीवन की अनिश्चितता में आशा के कुछ पल चुरा लेने का आह्वान करती ये कविता जीवन के कठिन समय की कविता है। स्त्री के दुख अनंत हैं, वह जिस घर को अपने चेहरे से भी ज्यादा संभारती है, वही घर उससे छूट जाता है या छुड़ा दिया जाता है। घर सिर्फ चारदीवारी ही नहीं होती, घर एक सुरक्षा का भी नाम है और सपनों के नीड़ का भी। यही घर है जहां सुरक्षित होने का बोध होता है, जहां मन की चादर उठाकर उसे पल-पल देखने और सुनने का अवसर मिलता है। ऐसा घर ही छूट जाए तो फिर संसार में कोई कोना स्त्री के लिए सुरक्षित नहीं रहता। प्रज्ञा ने इस दुख को बहुत ही कम शब्दों में रेखांकित किया है, 'इतने बरस जो सहेजती/और संभारती रही सिर्फ घर/अपने चेहरे से ज्यादा/घर का चेहरा देखा/आईने में/हर मौसम उतारा/घर के आंगन में/हर सुख-दुख को करीने से/सजाती रही आलों में/कभी प्रेम में भी डूबी/तो वो घर ही था/फिर भी उससे ही/क्यों छूटा उसका घर।' कविता का अंतिम वाक्य केवल प्रश्न नहीं है, यह शाश्वत सत्य है, स्त्री का सत्य जिसे वह हमेशा भोगती आई है। 'फिर भी उससे ही क्यों छूटा उसका घर' वाक्य स्त्री के दुख को रेखांकित करता है, उसे उस पंक्ति में लाकर खड़ा कर देता है, जहां घर छूटने वाली स्त्रियां अपनी उपेक्षा की पंक्ति में खड़ी हैं। प्रज्ञा दुख के तहखानों में जाती हैं और बताती हैं कि घर का छूटना किसी स्त्री को अंदर से कितना तोड़ता है, पर उसकी चटख की आवाज बार-बार क्यों अनसुनी कर दी जाती है। यह कविता

एक दृश्य बनाती है घर के अंदर अनथक काम करती स्त्री का, सुख-दुख से ऊपर घर को संवारती स्त्री का, सपनों का प्रति-संसार रचती स्त्री का पर अंत में वही घर उसका अपना नहीं होता, अपने होने और अपनों का साथ छूटने के दुख को जितना स्त्री झेलती है, उतना शायद ही कोई झेल सकता हो। घर के प्रति मोह प्रज्ञा की कई कविताओं में आया है। घर उन्हें दुनिया की सबसे अधिक सुरक्षित जगहों में से एक लगता है इसीलिए वे कहती हैं, 'दुनिया के सारे खेलों में सबसे अच्छा/खेल घर-घर ही तो है/जिसमें हार-जीत और हां-ना से/ज्यादा जीवन जीने का जश्न है।' घर के प्रति जितनी भी कविताएं हैं, उनमें भावुकता कहीं नहीं है बल्कि एक विश्वास है अपने होने का। ऐसी कविताएं जीवन यथार्थ से निकलती हैं, जिनके पास घर नहीं होते, उनके सपनों में घर बसते हैं। प्रज्ञा इन्हीं सपनों के बीच घर के यथार्थ को कविता में निर्मित करती हैं, इसलिए घर संबंधी कविताएं न केवल स्त्री बल्कि उसके परिवार का भी ऐसा कटु यथार्थ हैं जिससे हमारा समाज हर दिन रूबरू होता है।

घर-परिवार और समाज में स्त्री की उपस्थिति को लेकर प्रज्ञा रावत की ये कविताएं स्त्री के अनंत सपनों और उनके बिखरने की कविताएं हैं। तमाम संबंधों के बनने और बिछुड़ने के सुख-दुख इन कविताओं में इस प्रकार पिरोए गए हैं कि बार-बार पढ़ते हुए हमारे अपने ही समाज का आईना सामने आता है और मन का कोई कोना अचानक चटख जाता है। ये कविताएं पाठक के उस कोने के चटखने की आवाज को भी सुनने-सुनाने की कविताएं हैं। प्रज्ञा रावत अपनी कविताओं में यह विश्वास दिलाती चलती हैं कि दुनिया चाहे कितनी भी बदल जाए, हमारे विद्वान स्त्री-विमर्श के नाम पर चाहे कितनी भी जुगाली कर लें, पर स्त्री कंठ में सारी धरती को अपने दुख से भिगो देने के स्वर अब भी बाकी हैं।

जो नदी होती/प्रज्ञा रावत/राधाकृष्ण प्रकाशन, 2/31, अंसांरी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 150

अधिष्ठाता, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वरधा-442005 मो. : 09421191128

आलोचना

# जगदीश चंद्र के यशस्वी कथा-व्यक्तित्व की समग्र प्रस्तुति

पुष्पपाल सिंह

बा

त 1982-84 के बीच कभी की है, पंजाब भाषा विभाग ने मुझसे 'पंजाब का हिंदी कथा-साहित्य—1971-80' विषय पर एक संक्षिप्त शोध-पत्र (जिसे पंजाब भवन, नई दिल्ली में हुई गोष्ठी में पढ़ा गया) लिखवाया था। उसमें जगदीश चंद्र के उपन्यासों के विषय में मैंने प्रारंभ में जो शब्द लिखे थे, मुझे आज भी उनकी सार्थकता ज्यों-की-त्यों लगती है, अतः उन्हें उद्धृत कर 'जगदीश चंद्र रचनावली'—संपा. विनोद शाही, पर आगे चर्चा की जाएगी।

“...आठवें दशक के उपन्यासकारों में सर्वप्रथम श्री जगदीश चंद्र का नाम लेना समुपयुक्त होगा। मेरी अपनी धारणा है कि प्रचार-तंत्र के इस युग में जगदीश चंद्र के उपन्यास-लेखन का पूर्ण सम्मान हिंदी समीक्षा में नहीं हो पाया। केवल उनके 'धरती धन न अपना' को ही अपेक्षित चर्चा मिली। उसमें विद्वानों ने जनवादी चेतना (डॉ. मेघ) से लेकर 'कथा के मानवीकरण' (डॉ. इंद्रनाथ मदान) तक की बातें खोजीं किंतु कला-दृष्टि से उनके इससे भी सशक्त उपन्यास 'आधा पुल' और 'कभी न छोड़ें खेत' की ओर ध्यान नहीं गया।...मेरी दृष्टि में प्रेमचंद के बाद ग्रामीण जीवन का अत्यंत सशक्त चित्रण और प्रामाणिक वर्णन जिन चंद्र लेखकों ने प्रस्तुत किया है, उनमें जगदीश चंद्र का अप्रतिम स्थान है। कथ्य चाहे 'धरती धन न अपना' और 'कभी न छोड़ें खेत' का ग्रामीण-जीवन से संबंधित है अथवा 'आधा पुल' का सैन्य जीवन से संबंधित है, वह लेखक का ड्राइंगरूम से निरीक्षित और पठित वर्णन-भर नहीं है, अपितु उसमें निरीक्षण की इतनी सूक्ष्मता उन स्थितियों से जुड़ने की इतनी तन्मय घनिष्ठता है कि लेखक ही नहीं अपितु पाठक भी उन स्थितियों का सहभागी

बन जाता है। इसलिए जगदीश चंद्र के उपन्यासों में उठाया हुआ समाज और परिवेश प्रेमचंद के उपन्यासों के समान ही दस्तावेजी रूप में यथार्थ को सुरक्षित रख सका है। 'धरती धन न अपना' और 'कभी न छोड़ें खेत' की अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे पंजाब अंचल के गांवों के मुंह बोलते चित्र होकर भी 'आंचलिक' की सीमा में नहीं आते। उनका ग्रामीण समाज मात्र पंजाब का नहीं है अपितु स्थितियों का निरूपण इस रूप में हुआ है कि कमोवेश वह अपने समय के समस्त भारतीय समाज का प्रामाणिक अंकन बन जाता है।”

डॉ. विनोद शाही ने घोर अध्यवसाय से इस कृती साहित्यकार के न केवल समस्त उपन्यासों अपितु उनके लिखे शब्द-शब्द को 'जगदीश चंद्र रचनावली' के चार खंडों में संकलित कर न केवल साहित्य के लिए एक महत् कार्य किया है, अपितु जगदीश चंद्र के उपेक्षित कथा-व्यक्तित्व के प्रति भी पहलकदमी





कर पूर्ण न्याय किया है। चारों खंडों के प्रारंभ में दी गई उनकी भूमिका न केवल जगदीश चंद्र जी की कृतियों के मूल्यांकन का आधार देती है अपितु उपन्यास के विधागत स्वरूप के संबंध में भी विचारणीय सूत्र देती है। खंड एक में 'दलित चेतना के उपन्यास' शीर्षक देकर 'धरती धन न अपना' (1972), 'नरक कुंड में वास' (1994) तथा 'जमीन अपनी तो थी' (2001) का संकलन किया गया है। खंड दो में 'समाजैतिहासिक उपन्यास' शीर्षक के अंतर्गत 'कभी न छोड़ें खेत' (1976), 'मुट्ठीभर कांकर' (1982), 'घास गोदाम' (1986) तथा 'शताब्दियों का दर्द' (अधूरा उपन्यास) संकलित किए गए हैं। खंड तीन में 'युद्ध और शांति के उपन्यास' के अंतर्गत 'आधा पुल' (1972), 'टुंडा लाट' (1978) तथा 'लाट की वापसी' (2000) उपन्यास दिए गए हैं। खंड चार में 'विविधा' शीर्षक से 'यादों के पहाड़' (1966) तथा 'नेता का जन्म' (अप्रकाशित) शेष रचनाएं संकलित की गई हैं। इस प्रकार चार खंडों में प्रायः दो हजार चार सौ इक्यावन पृष्ठों (776+692+551+432) की विपुल साहित्य सामग्री जगदीश चंद्र जी के बहुमूल्य अवदान के रूप में साहित्य-संसार के सामने आती है, शोधकर्ताओं के लिए समग्र साहित्य की एक ही जगह प्राप्ति बहुत बड़ी सुविधा है।

जगदीश चंद्र की ग्रामीण जीवन पर जो अद्भुत पकड़ है, अपने देखे ग्राम समाज को कलात्मक संवेदन के साथ चित्रण करने की जो अद्भुत क्षमता है, वह उन्हें न केवल हिंदी कथा-साहित्य में ग्रामीण जीवन और दलित-चेतना के अप्रतिम कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है अपितु भारतीय साहित्य में उनके उपन्यास 'धरती धन न अपना' को बांग्ला के ताराशंकर बंधोपाध्याय के 'गणदेवता', ओड़िया के कालिंदीचरण पाणिग्रही के 'माटेर माणिष', हिंदी के प्रेमचंद के 'गोदान', फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' तथा श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' के समकक्ष रखा जा सकता है। 'धरती धन न अपना' (1972) के रचनाकार की एक और विशेषता है, प्रायः ही उपन्यासकार अपनी एक शीर्ष कृति देकर शेष कृतियों में उतार पर आ जाता है किंतु जगदीश चंद्र का कथाकार ऐसी श्रेष्ठ कृति देकर चुक नहीं जाता है, 'कभी न छोड़ें खेत' (1976), 'मुट्ठी भर कांकर', 'आधा पुल' (1972) तथा

'नरक कुंड में वास' (1994) जैसी उसी पाए की कृतियां निरंतरता में सृजित करता चलता है। निश्चय ही ये पांचों औपन्यासिक कृतियां जगदीश चंद्र को हिंदी साहित्य में प्रथम पांक्तेय उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं।

'धरती धन न अपना' को पढ़ते हुए बार-बार प्रेमचंद के 'गोदान' के गांव सेमरी और बेलारी याद आते हैं, प्रेमचंद और जगदीश चंद्र की ग्राम-समाज पर अद्भुत गहरी पकड़ नमन को बाध्य करती है कि किस पात्र को किस समय क्या कहना है, क्या करना है, शायद इन दोनों कलाकारों से ज्यादा कोई जानता ही नहीं है। अपने पात्रों की रहन-कहन और सहन (सहनशक्ति) से वे पूरी तरह परिचित हैं, मानो दोनों उस समाज के बीच से उठकर आए हों। प्रेमचंद ने सेमरी और बेलारी गांव का चित्रण जिस सार्वदेशिक रूप में किया है, उसी प्रकार जगदीश चंद्र होशियारपुर जिले के ढोलेवाह (अपनी ननसाल के) गांव का चित्रण उसकी स्थानिकता को पूर्णतः सुरक्षित रखते हुए इस रूप में करते हैं कि वह उपनिवेशवादी समय के भारतीय गांव का जीवंत चित्र बन जाता है। जमींदार, बड़े किसान (जट्ट), साहूकार, महाजन, गांव का बनिया, पुलिस-तंत्र, अटवारी-पटवारी, आदि अपने हरे चारे किसान और मजदूर को जिस रूप में चर रहे थे, जिस रूप में इन वर्गों को रौंदा जा रहा था, उसका लोमहर्षक चित्रण प्रेमचंद और जगदीश चंद्र के यहां मिलता है। और आगे बढ़कर जगदीश चंद्र 'धरती धन न अपना' और 'नरक कुंड में वास' में अपनी कलम को पूरी तरह दलितों पर केंद्रित कर देते हैं, वह '80 के दशक के शुरू में तब जब दलित-विमर्श का स्वर हिंदी में इस रूप में नहीं उठा था। दलित-पक्ष में जिस रूप में जगदीश चंद्र खड़े हैं, उस रूप में उनके उपन्यास इस कथन की खुली चुनौती बनते हैं कि दलित ही दलित की समस्याओं की जमीनी हकीकत, पीड़ा के असली दंश को समझ सकता है। हर गांव के बाहर के कोने पर बसे हरिजन टोले, चमादड़ी में कानपुर से छः साल बाद लौटा कथानायक काली जब अपनी चमादड़ी में प्रवेश करता है तो उसका नक्शा यह है, "थोड़ा और आगे जाने पर उसे जोर की ठोकर लगी और वह गिरते-गिरते बचा। गोबर की तेज बदबू ने उसे चमादड़ी (हरिजनों की

बस्ती) के निकट ही होने का संकेत दिया। इस स्थान पर बड़ा रास्ता काफी गहरा हो गया था क्योंकि गांव में बरसात का सारा पानी इसी रास्ते से चो (बरसाती नाला) में जाता था। कुछ क्षण के बाद ही वह चमादड़ी के कुएं पर पहुंच गया। कुएं के गिर्द गंदे पानी और कीचड़ की छपड़ी (छोटी तलैया)। अनायास ही वह वहां रुक गया और सामने छोटे कच्चे-कच्चे मकानों को देखने लगा" (पृ. 24) वहां के जीतू जैसे नौजवान ऐसे हैं जिन पर "यौवन और बुढ़ापा एक साथ ही शुरू हो गए हैं।" लेखक जिस समाज का चित्रण कर रहा है, उसकी हकीकत यह है, "काली औरतों के मैले-कुचैले, फटे-पुराने और नाक सुड़सुड़ते नंग-धड़ंग बच्चों को देखता हुआ सोचने लगा कि वह किस दुनिया में आ गया है। कई औरतों और बच्चों की पलकें गुलाबी थीं और उन पर एक भी बाल नहीं था और उनसे निरंतर पानी बह रहा था। उनके शरीरों और कपड़ों से ऐसी दुर्गंध आ रही थी जिससे काली अपना परिचय खो चुका था।" गांव के चौधरी लोग अपने इन खेत-मजदूरों से जो व्यवहार करते थे, उसका परिचय बेकसूर जीतू को चौधरी हरनामसिंह की बेरहम पिटाई से मिलता है। 'कुत्ता चमार' के संबोधन से जूतों की ताबड़-तोड़ पिटाई करता चौधरी जीतू को इंसान ही नहीं समझता। इतनी मार उसे दी जाती है कि इतना खून उसके अंदर से निकलकर बह रहा था मानो 'जीतू के अंदर से लहू के घड़े निकल रहे थे।' जीतू को काली पर दया आती है कि तू 'इस नरक में दोबारा क्यों आ गया'। गरीबी का आलम यह है कि जीतू को शरीर को गरमाइश देने के लिए दो घूंट चाय भी नहीं मिल पाती है क्योंकि "घर में गुड़ तो है, चाय की पत्ती भी मिल जाएगी, लेकिन दूध कहां से आएगा। चौधरी के घरों से तो लस्सी भी बहुत मुश्किल से मिलती है, दूध कौन देगा? गली में तो सिर्फ मंगू के घर में भैंस है। यहां से दूध तो क्या खाली बर्तन भी वापस नहीं मिलेगा।" इनके घरों में भी गरीबी दूर से ही लटकती दिख जाती है, काली के घर का दृश्य ऐसा है, "काली जब भी कोठरी में लेटता तो उसे यही डर रहता कि छत उसके ऊपर आ गिरेगी। दीवारें उसे अपने मलबे के नीचे दबा लेंगी। छत जगह-जगह नीचे की ओर झुकी हुई थी और वहां मैले-मैले

जाले लटक रहे थे। शहतीरों को दीमक ने खोखला कर दिया था और सरकंडों के ऊपर मिट्टी को खदेड़कर चूहों ने अपने घर बना लिए थे। छत को खड़ा रखने के लिए कई लठों का सहारा दिया गया था। फर्श सीला था और कोठरी में हर समय अंधी आंख की तरह अंधेरा छाया रहता था। दीवारें कुबड़ी हो गई थीं और किसी भी समय छत धड़ाम से नीचे गिर सकती थी।” (पृ. 46)। ऐसी स्थिति से घबराकर काली अपने और चाची के लिए एक पक्का मकान बनाने का संकल्प लेता है। यहीं से गांव में काली की संघर्ष कथा शुरू होती है। छज्जू शाह महाजन द्वारा बाप का कर्ज पटाने की जुगत, काली के कच्चे घर की जमीन भी उसकी नहीं है का नंगा सच सामने आते ही उसकी हिम्मत पस्त हो जाती है। उसे छप्पड़ (तालाब) से मिट्टी भी नहीं खोदने दी जाती, चौधरी हरनाम सिंह का नौकर मंगू तब उसे मिट्टी खोदने के लिए दुत्कारता है, वह हैरान-परेशान है कि “...चौधरी उसे इसलिए नीच समझता है क्योंकि वह चमार है। छज्जूशाह उसे किसी गिनती में शुमार नहीं करता क्योंकि वह गरीब है। मुंशी उस पर इसलिए विश्वास नहीं करता क्योंकि वह जमीन का मालिक नहीं है। लेकिन मंगू किस बिरते पर रौब दिखाता है।” शोषण की इन सब ताकतों का विरोध करता काली अपना मकान बनाने के लिए घोर संघर्ष करता है, चौधरियों की खरीदी पंचायत, चौधरियों द्वारा चमारों का बॉयकाट-बहिष्कार, बांध के टूटने पर चमारों को मजदूरी न देना, गांव में कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रवेश, अपने हिंदू समाज के अनाचारों से त्रस्त होकर चमारों का धर्मांतरण का निर्णय, आदि का चित्रण करता हुआ लेखक उस समय और समाज में गहरे प्रवेश करता है। काली उस समाज में आ रही जागृति का प्रतिनिधि पात्र तो बनता है किंतु वह ज्ञानो की प्रीति में ऊर्जा-शेष-सा हो मकान का सपना अधूरा ही छोड़ गांव छोड़ देता है। काली जैसे ऊर्जावान चरित्र को इस प्रकार लुंज-पुंज होते दिखाना पाठक को अखरता अवश्य है। (एक बार एक व्यक्तिगत बातचीत में मैंने जगदीश चंद्र जी से प्रश्न किया था कि आप काली जैसे संघर्षशील पात्र को ‘धरती धन न अपना’ और ‘नरक कुंड में वास’ में बाद में ऐसा दीन-हीन कर क्यों छोड़ देते हैं, उनका उत्तर था कि मैं उसे

हर उपन्यास में ऐसा ही दिखाऊंगा। कदाचित् वे कहना चाहते थे कि अपनी हर पिछली हार से काली फिर आगे बढ़ने, जीवन को नए सिरे से जीने का हौंसला रख नई संघर्ष-यात्रा पर निकलता है।) काली के इस चारित्रिक अभाव के होते हुए भी ‘धरती धन न अपना’ ग्रामीण समाज में दलितों के जीवन का चित्रण महाकाव्यात्मक औदात्य के साथ करता है।

संकलन में दूसरा उपन्यास ‘नरक कुंड में वास’ है जिसमें जगदीश चंद्र एक बिलकुल अछूता कथ्य अपनाते हैं। रेहड़ा खींचने वाले मजदूरों तथा मुख्यतः पशुओं की कच्ची खाल को साफ करने वालों, कच्चा चमड़ा कमाने वाले, दलित मजदूरों की जिंदगी की तकलीफों को उजागर करना इस उपन्यास का कथ्य है। दोनों ही रूपों में पशुवत् जिंदगी जी रहे दलित वर्ग, चमारों के टोले का अत्यंत सूक्ष्म, प्रामाणिक और गहरी संवेदनशीलता से चित्रण करता हुआ लेखक हिंदी में दलित-चेतना का महत्त्वपूर्ण, पुरोध उपन्यासकार बन जाता है। यह उपन्यास ‘धरती धन न अपना’ का अगला चरण बनाता है और आगे चलकर ‘जमीन अपनी तो थी’ (2001) के रूप में इस कड़ी का तीसरा खंड आता है। तीनों का कथा-नायक एक ही है, काली, उसी की जीवन-यात्रा के माध्यम से एक प्रकार से भारतीय समाज संरचना का 65-70 वर्षीय इतिहास प्रस्तुत हो जाता है। ‘धरती धन न अपना’ का कालीचरन उर्फ काली गांव छोड़ने को विवश हो शहर जलंधर का रुख करता है। यहीं से उसका जीवन एक नरक कुंड में रहने के लिए अभिशप्त हो जाता है। उसकी जिंदगी के आंतरिक नरक दो हैं—प्रथम रेहड़ा खींचने में पशुवत् ‘भींड़ी’ बनने में और दूसरा कच्चे चमड़े के कारखाने में पशुओं की खालों की सफाई करने में। वह एक नरक से निकलता है तो दूसरे नरक में चला जाता है, मानो नरक में पड़ गलते रहना ही उसकी नियति है। काली के बहाने लेखक उन स्थितियों को संकेतित करता है जिनके चलते नवयुवकों को अपना गांव, घर-बार छोड़ शहर में पांव टिकाने के लिए घोर संघर्ष करना पड़ता है—सोमा, बरकत, भीतसिंह, तोरक, मनसुख, छिबू आदि सभी युवकों की यही कहानी है। खुशी से शहर कोई नहीं आता, तंगी, तुर्शी ही गांव छोड़ने पर मजबूर करती है। यहां आकर रेहड़ा खींचना, ‘भींड़ी’ बनना

कोई आसान काम नहीं, पशु-बैल के समान रेहड़े में और फिर पशुवत् ही जीवन व्यतीत करना इनकी जीवन-चर्या है। रेहड़ी-हथ्ये को छाती से लगाकर रस्से की दोनों लड़ों को पकड़ना, उतार-दबाव का अंदाजा लगाना, पसीने से सराबोर हो पशु की तरह हांफ जाना, पशु की तरह गटागत पानी पी जाना, दोपहर की रोटी, इस घोर परिश्रम के काम को अंजाम देने के लिए अफीम की गोलिएयां खाना, अधिक बोझ ढोने से इन सबके पैरों का टेढ़ा हो जाना, आदि स्थितियों का बहुत सूक्ष्म और संवेदनात्मक चित्रण लेखक ने किया है। यह काम भी काली को किसी के गांव चले जाने पर एवजी में मिला था, एवजी के आ जाने पर काली को वहां से हटना पड़ता है। वहां से हट काली जलंधर की बूटा मंडी में कच्चा चमड़ा कमाने के काम में लग जाता है। उसकी बेकारी की जिंदगी की विवशता उसे उस पहले नरक से भी बड़े नरक में धकेल देती है। इस जिंदगी का धिनौना वातावरण, मरे हुए पशुओं की खालों को उठाना, उनमें नमक लगाना, फिर उसे साफ करना, पैरों से रगड़ना, भयंकर बदबू से उल्टियां लगाकर बुरी तरह जी मिचलाना, पैरों का गलना, गले पैरों में मक्खी लगते हुए भी नमक लगी खालों को खूंदना, आदि अमानवीय स्थितियों का धिनौना, लोमहर्षक प्रत्यक्षदर्शी जैसा चित्रण किया है, वह अद्भुत बन पड़ा है। जिस गहरी संवेदनशीलता के साथ लेखक इस बस्ती में पाठक का प्रवेश कराता है, कारखाने में घुमाता है, वह द्रष्टव्य है, “कमरे के बाहरी दीवार के साथ दालान की ओर ताजा खालों का ढेर था। उनमें नमक लगा हुआ था और चरबी के छोटे-छोटे टुकड़ों का बोझा उठाए हुए पानी आंगन में फैल गया था। इन खालों में तेज बदबू उठ रही थी। खालों और चारों ओर फैले हुए चरबी मिश्रित पानी पर इतनी ज्यादा मक्खियां बैठी हुई थीं कि खाल और पानी कहीं-कहीं ही दिखाई दे रहे थे। यह काम इतना गंदा है कि हर समय इसमें काम करने वाले आदमी को गंदी बदबूदार नाली का कीड़ा बनकर ही रहना पड़ता है। जिस आदमी को दिन-रात नमक, चूने या कीकर छीलन में खड़े रहना पड़ता हो, उसे तरह-तरह के रोग, चर्म रोग हो जाना एक आम बात ही है।...यह काम अच्छे-भले आदमी को कुछ साल में ही खा जाता है। खुजली-खारिश तो दो-तीन

महीने के बाद ही शुरू हो जाती है। जिस आदमी के हाथ-पांव, बाजू-टांगें, नमक शीरे, चूने और छीलन के पानी में रहेंगे सारा दिन मोटा मक्खी-मच्छर काटेगा, उसकी जिंदगी क्या होगी।” इस जिंदगी से आजिज आया माझा नामक पात्र दार्शनिक अंदाज में इस कठोर यथार्थ को शब्द देता है, “हम लोगों की जन्म से मरण तक सारी जिंदगी ही गंदगी में गुजरती है। रुके हुए सड़ांध-भरे पानी में मच्छर, मक्खियों की तरह हम भी पलते हैं। चार दिन भी-भीं करके मर-खप जाते हैं।” इस नारकीय जिंदगी को देने वाले मालिक भी इसी दलित वर्ग के हैं किंतु वे भी इनसे जैसा व्यवहार करते हैं वह एक अलग प्रकार का शोषण है—अपनों का अपनों द्वारा ही शोषण। काली इस शोषण के खिलाफ खड़ा तो होता है किंतु यहां भी वह ‘धरती धन न अपना’ की तरह स्थितियों से जूझता नहीं, यहां से भी भाग खड़ा होता है। इस अभाव के होते हुए भी यह दलित-जीवन के इस पक्ष पर बहुत ही सशक्त उपन्यास है।

‘जमीन अपनी तो थी’ इस कड़ी का तीसरा चरण है जिसमें कालीचरण का आजादी के बाद का वह समय चित्रित है जब दलित वर्ग में एक नई संघर्षपूर्ण ऊर्जा का जन्म होता है, अपने अधिकारों के लिए लड़ने, सत्ता में भागीदारी का अपना सवैधानिक अधिकार पाने का नया जज्बा पैदा होता है। जब इस वर्ग के लोगों में एक खास तरह का मलाईदार तबका—‘क्रीमी लेयर’—बन रहा है, दलित और निम्न वर्ग की श्रेणी से ये लोग उठकर ऐसी श्रेणी में आ जाते हैं जिसमें आरक्षण का कवच पाकर आई.ए.एस., पी.सी.एस., दारोगा, तहसीलदार, आदि बनते हैं और वे अपने वर्ग का शोषण जिस रूप में करते हैं उसकी मिसाल उपन्यास में तहसीलदार कुलतार सिंह है जो अपने ही भाइयों की “जमीनें हड़पकर सौ किल्ले के फार्म का मालिक बन गया है। दो फसलें भी ले चुका है।” काली का बेटा ज्ञान आई.ए. एस. में आ जाता है, ज्ञान का आई.ए.एस. का परिणाम घोषित होते ही काली ‘चमार से चौधरी’ बन जाता है। किंतु काली बेटे की उच्च अफसरी जिंदगी का हिस्सा होने के लिए उसके साथ नहीं जाता, वह अपनी जमीन से जुड़े रहने के लिए गांव में ही रह जाता है। इस उपन्यास में स्वतंत्र भारत में कोर्ट-कचहरी, पटवारी से लेकर अफसरशाही तक की

लूट-खसोट, जमीनें हथियाने की जुगुतों का बड़ा प्रामाणिक चित्रण उस समाज के अंग-संग रहकर किया गया है।

‘कभी न छोड़ें खेत’ में पंजाब के जट्ट किसानों की जिंदगी का बड़ा प्रामाणिक अंकन किया गया है। जर, जोरू और जमीन के लिए इन जट्ट किसानों में होती लठैतियां, कल्ल और मुकद्दमेबाजियां, इन झगड़ों में औपनिवेशिक चरित्र की पुलिस व्यवस्था की भूमिका, पुलिस का मुलाजिम को फंसाने, नृशंस मार से सच-कुसच कहलाने की कारस्तानियों, कोर्ट-कचहरी की भागदौड़, मुकद्दमों की पैरवी के लिए अनपढ़ और रूढ़ियों में जकड़े ग्रामीणों का जमीन-जायदाद लुटा देना, कर्ज देने के लिए साहूकारों की तरह-तरह की जोड़-तोड़ और किसानों का लगभग खून चूसने जैसा शोषण, पुलिस से लेकर अस्पताल के कर्मचारियों तक का भेंट-पूजा चढ़वाने के लिए विवश करना, अदालत-कचहरी का जग-जाना डर्रा, किसान के शोषण के ये विविध साधन ही नहीं, थोड़ा-सा भी कोर्ट-कचहरी का काम जानने वाले उसके अपने तथाकथित ‘सगे’—सभी मिलकर उसे जिस रूप में खाते हैं—इन सबका अंकन उपन्यास में बहुत प्रामाणिक और प्रभावी रूप में किया गया है। जमीन किसी दूसरे के पास न चली जाए इसलिए खानदान को वारिस देने के लिए जसवंत कौर का ढलती उम्र में मां बनने का संकल्प इन जुझारू जट्ट किसानों के चरित्र-बल का परिचय देता है। यह उपन्यास ‘धरती धन न अपना’ से किसी भी तरह कमतर नहीं है, पर चर्चा ‘धरती धन न अपना’ को ही अधिक मिली। (कदाचित् इसी उपन्यास के आधार पर ‘वारिस’ फिल्म बनी थी।)

वस्तुतः जगदीश चंद्र अपने उपन्यास के लिए जो भी कथा-स्थल, अंचल, चुनते हैं, उसमें पूरी तरह रच-बसकर कृति में उसकी मिट्टी की सुवास अनुगुंफित कर देते हैं। दिल्ली के आसपास के गांवों को जिस प्रकार दिल्ली के महानगरीय विस्तार ने लील लिया, आजादी के बाद जिस तरह वहां पाकिस्तान से आए शरणार्थियों, पंजाबियों ने दिल्ली के आसपास के उन गांवों की बस्तियों की सभ्यता-संस्कृति को पूरी तरह बदलकर रख दिया जो धीरे-धीरे दिल्ली के पेटे में समा रही थीं, इन सबका चित्रण करता ‘मुट्ठी-भर कांकर’ भी इतना ही

सशक्त उपन्यास है। आश्चर्य होता है यह देखकर कि जालंधर-होशियारपुर-क्षेत्र में जगदीश चंद्र किस प्रकार दिल्ली अंचल के जाट पात्रों की बोली-बानी को अपनी कहन में रमा लेते हैं, यथा—कै हो गया पहलाद को? जब देखो तब अंडुवा बैल की तरह आल करे है।” आजादी के बाद के कालखंड में जिस प्रकार सभ्यता-संस्कृति की दृष्टि से उत्तर भारतीय समाज का कार्यांतरण हुआ, ‘मुट्ठी-भर कांकर’ उसका दस्तावेजी रूप प्रस्तुत करता है।

रचनावली के तीसरे खंड ‘आधा पुल’ (1973) उपन्यास की चर्चा भी आवश्यक है। सैन्य जीवन का इतना सूक्ष्मदर्शी और प्रामाणिक चित्रण अभी तक हिंदी के किसी भी अन्य उपन्यास में नहीं हुआ है। सैनिक जीवन की शब्दावली, दिनचर्या, नयाचार (‘प्रोटोकॉल’) संबंधी सैन्य शिष्टाचार, सैन्य फील्ड क्राफ्ट, बैटल क्राफ्ट, का इतना सूक्ष्म और जीवंत चित्रण, बैटल क्राफ्ट के दांव-पेंच, मोरचों पर लड़े जा रहे युद्ध की बारीकियों में कहीं कोई चूक नहीं, फौजी पात्रों की बातचीत का वही लहजा और इन सबके बीच कैप्टन इलावत और सेमी की एक टीस-भरी कसक-सी छोड़ देने वाली प्रेम-कथा ‘आधा पुल’ को हिंदी का एक बेजोड़ उपन्यास बना देती है। वस्तुतः उनके पास युद्ध के अग्रिम मोर्चों से पी.टी. आई. के रिपोर्टर के रूप में गहन अनुभव संपदा थी।

रचनावली के चौथे खंड में उनका पहला उपन्यास ‘यादों के पहाड़’ (1966), एक मात्र कहानी-संग्रह ‘पहली रपट’ तथा ‘आपरेशन ब्लू स्टार’ (1996) पर रिपोर्ताज जैसी महत्वपूर्ण सामग्री संकलित है। ‘नेता का जन्म’ उनका अप्रकाशित नाटक भी इसी खंड में संकलित है। इस प्रकार जगदीश चंद्र वैद्य का महत्वपूर्ण साहित्य ‘जगदीश चंद्र रचनावली’ के चार खंडों के रूप में सुलभ हो सका है जिसके लिए संपादक और प्रकाशक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

जगदीश चंद्र रचनावली (4 खंड)/संपा. विनोद शाही/आधार प्रकाशन प्रा.लि., एस.सी.एफ.-267, सेक्टर-16, पंचकूला-134113 (हरियाणा)/मूल्य : सम्पूर्ण सैट 4,000

63, केसर बाग, पटियाला, मो. 094178-65651

# सूरदास : समालोचना का रसामृत

श्याम कश्यप

वै

ष्णव कवियों, खासकर भक्तों की आलोचना करना 'आग से खेलवाड़' कहा गया है। इसमें झुलसने और जल जाने के खतरे हैं। सूर-काव्य की आलोचना में तो और भी अधिक। तुलसीदास के बाद नंदकिशोर नवल ने सूरदास में यह 'खेलवाड़' करने का जोखम उठाया है। लेकिन इस जानलेवा 'खेलवाड़' से पहले उन्होंने भरपूर तैयारी की है। सबूत है तकरीबन आधी सदी में फैला उनका आलोचनात्मक संघर्ष। जो एक अर्थ में उनका आत्मसंघर्ष भी है। जहाँ हर आगामी कृति, फिर चाहे वह कोई लेख हो या शोध अथवा किताब, पिछली से आगे बढ़ा हुआ कदम रही है। एक नई खोज। एक नई स्थापना। एक नए मूल्य की प्राण-प्रतिष्ठा! पहले कभी था भी, तो उसकी नए ढंग से, नए सिरे से, पुनर्प्रतिष्ठा।

यह तैयारी निराला-काव्य से शुरू होकर, शमशेर-मुक्तिबोध और मैथिलीशरण गुप्त से होते हुए, लगभग आधुनिक हिंदी कविता का इतिहास तक, कह सकते हैं कि, मुकम्मिल हुई है। शायद फिर किसी अज्ञात की ओर नई उड़ान के लिए! यह 'खेलवाड़' मात्र इन तैयारियों-भर से संभव न था। संभव बनाया है उनकी अत्यंत संवेदनशीलता, गहन भाव-प्रवणता और अतिशय सूक्ष्म एवं सघन इंद्रियबोध ने! मुझे लगता है, उनकी इस तलस्पर्शी सौंदर्य-दृष्टि के पीछे कहीं ओट में हैं कविवर नंदकिशोर नवल! भले वे आलोचना के मेघमंद्र घटाटोप के नीचे प्रायः छिपे रह जाते हैं। और है एक बेहद मर्मी काव्यास्वादक। यही वह विलक्षण रसायन है (या शायद रासायनिक यौगिक) जो झुलसे या जले बिना,

सफलतापूर्वक 'आग से खेलवाड़' संभव कर दिखाता है! खरा स्वर्ण। तपकर जो कुंदन बन दमकता है। समकालीन हिंदी आलोचना में सर्वथा एक नया रस-निर्झर! सार्थक। और संभवतः अभी अकेला भी। फिलहाल।

नवलजी ने 'कविता के इतिहास' की भूमिका में कहा भी है कि 'कृति से साक्षात्कार' पर मैं काफी पहले से जोर देता रहा हूँ। इससे पहले लिखते हैं : मेरा जोर विश्लेषण पर ही नहीं, आस्वादन पर भी है। यही संकल्पना सूरदास में इस रूप में आई है : यह शोध और तथ्य-प्रधान न होकर आस्वादपरक है, पर आस्वादपरकता आलोचना की पहली शर्त ही नहीं है, यदि आस्वादकर्ता सजग हुआ, तो उसका मूल्यांकन भी उसी में निहित होता है। जैसा कि तुलसीदास में है। और भी निखरे और निथरे रूप में सूरदास में है। ज्यादा गहरे, अंतर्निहित, अंतरंग और

आत्मीय अर्थों में। श्रेष्ठ कविता जैसे आग और पानी का जादुई खेल है, एक विलक्षण कीमियागिरी, वैसे ही श्रेष्ठ समालोचना भी ऐसे ही सर्जनात्मक द्वंद में आग-पानी का जादू-भरा खेल बन जाती है! रसामृत!

सूर-साहित्य में हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि साहित्य-सृष्टि की मूल शक्ति का नाम 'संश्लेषणी' (या संघाती) है, 'विश्लेषणी' नहीं। खासतौर से सूरसागर के लिए उन्होंने लिखा है कि उसकी एक-एक तरंग जिस प्रकार विश्लेषण भाव से परिपूर्ण है, उसी तरह संश्लेषण भाव से भी। कहना न होगा कि इस साहित्य-सृष्टि में श्रेष्ठ काव्य ही नहीं श्रेष्ठ समालोचना भी आती है। सृजनात्मक समालोचना और किसे कहेंगे। महाकवि सूरदास के लिए कहीं द्विवेदीजी की उक्ति, समीक्षित पुस्तक पढ़कर, नंदकिशोर नवल के लिए भी सटीक बैठती है : वे विश्लेषण में भी अनुपम हैं, संघात (संश्लेषण) में भी। तुलसीदास की तरह यह पुस्तक भी नवलजी ने अपनी 'मनःतृप्ति' के लिए लिखी है। पर पाठक (या आस्वादक) अगर संवेदशील हुआ तो निश्चय ही रससिक्त होगा; और यदि सजग भी हुआ तो सूर के इस पुनर्मूल्यांकन (या कहें नए मूल्यांकन) के सर्जनात्मक द्वंद का भरपूर आनंद उठा पाने में सफल होगा।

सूरदास के संदर्भ में तो यह कृति एक अन्य अर्थ में भी 'आग से खेलवाड़' करना ही है! स्मरणीय है कि सूर की मुक्तकंठ से प्रशंसा करके भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन्हें तुलसी से पीछे रखा था : प्रबंध-पटुता की बजाय सूर का प्रगीतकार होना और लोकमंगल का अभाव। सूरदास में लिखा : मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशाएँ,



जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं, उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किए हैं, वैसे सूर ने नहीं। तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। इसी तरह हिंदी साहित्य का इतिहास में भी : तुलसी के समान सूर का काव्यक्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो। अर्थात् यह प्रगीत-काव्य की, और इसीलिए सूरदास की भी बुनियादी कमी है।

ये दोनों बातें सही नहीं हैं। कोई महाकाव्य लिखे बिना, निराला, तुलसीदास और सूरदास के बाद, हिंदी के सबसे बड़े जातीय कवि हैं। उनकी 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी लंबी कविताओं का छायावादी काव्य में वही महत्व है, जो प्रसादजी की 'कामायनी' का। वैसे ही छायावादोत्तर काव्य में मुक्तिबोध की लंबी कविताओं का। विशेष रूप से, उनकी महाकाव्यात्मक रचना 'अँधेरे में' का। प्रगीत-काव्य सूर की कमी नहीं है, जैसे कि फैंटेसी मुक्तिबोध की कमी नहीं है; और न ही वह यथार्थ-विरोधी रूप है। शमशेर ने ('अम्न का राग' छोड़कर) मुक्तिबोध की तरह लंबी कविताएँ भी नहीं लिखीं। ज्यादातर छोटी कविताएँ ही लिखी हैं। फिर भी, ये दोनों कवि निराला के बाद आधुनिक हिंदी काव्य में सबसे बड़े कवि हैं। निश्चय ही अपने-अपने ढंग के। जैसे कि सूर और तुलसी हैं। अपने-अपने ढंग के।

नवलजी ने आचार्य-प्रवर पर उचित ही यह टिप्पणी की है कि शुक्लजी की रसज्ञता में किसी को संदेह नहीं। वह बाधित हुई है, तो उनकी अपनी मान्यताओं के कारण (तुलसीदास का प्राक्कथन)। शुक्लजी का 'लोकमंगल' को लेकर दुराग्रह हो या मार्क्सवादियों का 'यथार्थवाद' अथवा 'विचारधारा' को लेकर, अन्याय तो सूर, निराला अथवा मुक्तिबोध और शमशेर-जैसे महान कवियों और उनके कालजयी काव्य के प्रति ही होता है। इसी तरह, प्रबंध बनाम प्रगीत हो या फैंटेसी के शिल्प-विधान का प्रयोग, दुराग्रहों से क्षति तो साहित्य और उसके मूल्यांकन की ही होती है। उपर्युक्त 'प्राक्कथन' में ही नवलजी ने लिखा है कि

कविता का विचार क्या विचारधारा से भी कोई विरोध नहीं। लेकिन ये कविता की कसौटी नहीं हो सकते। वह चित्रण और उसमें पाई जानेवाली नाटकीयता एवं गहराई ही हो सकती है। अनेक युगों के नहीं, एक युग के कवियों का भी सौंदर्य-बोध अलग-अलग होता है। लेकिन सौंदर्य ऐसी वस्तु है जो बहुत कुछ शाश्वत है। कहना न होगा कि अलग-अलग सौंदर्य-बोध और भिन्न-भिन्न चित्रण-शैलियों एवं कला-रूपों के बावजूद सूर, तुलसी और निराला से लेकर मुक्तिबोध और शमशेर-जैसे कवियों का काव्य यदि अमरता का अधिकारी है, तो इसी 'सौंदर्य' के कारण!

जहाँ तक महान समालोचकों से कतिपय ऐसी 'चूक' या दुराग्रहवश 'भूलें' होने का सवाल है, तो यही कहा जा सकता है कि बड़े से बड़ा आलोचक भी कई बार अपनी छाया नहीं लाँघ पाता! नवलजी ने तकरीबन यह कर दिखाया है। दोहरे ढंग से। दिग्गजों की छाया से तो वे बाहर आए ही हैं, खुद अपनी 'मान्यताओं' को भी पार कर गए हैं। यह इस पुस्तक का एक अतिरिक्त महत्व है। हालाँकि इस यात्रा के संक्रमण-चिह्न तो प्रायः उनकी पिछली कई कृतियों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। पर सूरदास अपनी अंतर्वस्तु और सर्वोपरि रूप-विधान एवं भाषा-शैली के लिहाज से मील का पत्थर है।

आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त 'असंगतियों' से द्विवेदीजी ने अलग हटने की कोशिशें तो खूब कीं, पर वे सूर-साहित्य में इतिहास और मिथक की अनावश्यक बीहड़ों में खो गए। इससे सूर-काव्य के मूल्यांकन में उनकी रसज्ञता और सरसता भी जगह-जगह बड़ी बाधित हुई। वे वैष्णव धर्म और भक्ति संबंधी शुक्लजी की सही मान्यताओं से तो दूर हटे ही, उनका 'लोकधर्म' भी कई जगह प्रायः तंत्र-मंत्र, गुह्य साधनाओं और वामाचार का पर्याय बन गया। डॉ. रामविलास शर्मा ने दोनों अग्रज मूर्धन्यों के अंतर्विरोधों पर तो सही उँगली रखी, पर भक्तिकाल की सामंतविरोधी लोकजागरण वाली भूमिका और सौंदर्य-बोध पर विपुल साहित्य की रचना करने के बावजूद, सूर का समग्र मूल्यांकन उन्होंने भी नहीं किया।

पर, जो नहीं है, उसका गम क्या! रामविलासजी की योजना जरूर थी और उन्होंने काम भी शुरू कर दिया था। हम सभी जानते हैं कि उनकी भारतीय सौंदर्यबोध और तुलसीदास अधूरी ही रह गई। इसके बाद सूरदास की काव्य-कला पर पर छोटी-सी पुस्तक लिखने का अवसर आया ही नहीं। यह काम समीक्षित कृति के रूप में नवलजी ने किया है।

नामवरजी ने तो सूर क्या किसी भी कवि का समग्र मूल्यांकन नहीं किया। निर्गुण-सगुण विवाद और रामभक्ति बनाम कृष्ण भक्ति काव्यों के संदर्भ में मुक्तिबोध के संकीर्णतावादी दृष्टिकोण का पुरजोर समर्थन कर, वे भी मौन होते गए! जहाँ तक नंददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्रादि अन्य शुक्लोत्तर आलोचकों का सवाल है, तो उन्होंने तो अपना 'कृष्ण-पक्ष' ही उजागर किया है। सूर को दरबारी परंपरा के रीतिवादी श्रृंगारी कवियों की पंक्ति में बिठाकर वे शुक्लजी की धुर उल्टी दिशा में चले गए। ऐसे में नवलजी की यह पुस्तक इसलिए भी 'मील का पत्थर' है कि इसमें पहली बार महाकवि की भरी-पूरी भव्य प्रतिभा उकेरी गई है, जो किसी भी दृष्टि से तुलसी से कम नहीं है। इसके साथ ही उनकी काव्य-कला की बारीकियों को भी बड़े ही मार्मिक रूप से प्रत्यक्ष किया गया है। यह जितना प्रामाणिक है, उतना ही सहजग्राह्य और रससिक्त भी।

शुक्लजी का खंडन करते हुए नवलजी ने 'निवेदन' में लिखा है : तुलसी की प्रतिभा मूलतः प्रबंधात्मक थी, जबकि सूर की गीतात्मक। ऐसी स्थिति में आँख मूँदकर एक कवि की कसौटी पर दूसरे कवि को चढ़ाने से कभी न्याय सम्भव नहीं। वे तुलसी और सूर को भारतीय संस्कृति के दो पक्ष और एक-दूसरे के शोषापूर्क मानते हैं। रामविलासजी भक्ति-आंदोलन की इसी बुनियादी एकता पर बराबर बल दिया करते थे। नवलजी यहीं यह भी कहते हैं कि किसी कवि के लिए यह संभव नहीं है कि वह अपने देश और काल से बाहर कूद जाए। वह जिस रूप में लिखे, अपने देश-काल को ही लिखता है। तुलसी की तुलना में सूर के प्रसंग में इस 'चूक' या कठिनाई की मुख्य वजह यह है कि, बकौल एडोर्नो,

प्रगीत-काव्य 'इतिहास की दार्शनिक धूषड़ी' होता है। साधारण घड़ियों से समय का ज्ञान अंकों या संकेतों से होता है, जबकि 'धूपघड़ी' में छाया से समय का ज्ञान करना पड़ता है। निस्संदेह, छाया को पकड़ना थोड़ा मुश्किल होता है। नवलजी ने इस कृति में इसी मुश्किल को आसान किया है। वह भी पूर्णतः रसामृत के रूप में! मध्य-युग की कविता के बारे में द्विवेदीजी के कथन को कुछ बदलकर कहें तो यह किताब रूप और रस को अपने-अपने स्थान पर अच्छी तरह सजाती है। रस की सृष्टि करते समय रूप को अग्रसर नहीं करती और रूप की रचना के समय वह उसे नीरस नहीं होने देती। उसका रूप रस का आश्रय है, रस रूप का पूरक।

नवलजी की यह दृढ़ मान्यता है कि सूरदास 'पूर्ण जीवन के कवि' थे। उन्होंने बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था, तीनों को समेटते हुए वात्सल्य, प्रेम और भक्ति की मर्मभेदी और लालित्यपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। इन्हीं में उन्होंने अपने संपूर्ण युग और परिवेश को समेटा है। अपनी स्वच्छंद दृष्टि तथा अद्भुत तल्लीनीता और कलात्मक रचाव के साथ। जहाँ तक उनके भक्ति और विनय के पदों का संबंध है, नवलजी ने लिखा है कि जिसे हम अलौकिक समझते हैं, वह भी मूलतः लौकिक ही होता है। उसे समझने के लिए तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टि चाहिए, जो इकहरी समझवाले संकीर्णतावादी आलोचकों के पास नहीं होती। टेरी इगल्टन के हवाले से वे बताते हैं कि व्यक्ति अपने अधूरेपन से छुटकारा पाने के लिए लोक से परे जाता है। बकौल अन्स्ट फिशर 'मनुष्य की कल्पना के लिए स्थान सिकुड़ता जा रहा है। धर्म और पुराण हमें काल्पनिक उड़ान भरने के लिए पर्याप्त अवकाश मुहैया कराते हैं; जिसके द्वारा हम अपने व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करते हैं।'

भक्ति-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सूर और तुलसी-जैसे कवियों का व्यक्तित्व पहली बार उभरकर सामने आता है। सूरदास के पदों में ऐसी 'सच्चाई की तपिश' है कि उनका संपूर्ण काव्य अपनी आत्माभिव्यक्ति का ही करुण संगीत प्रतीत होता है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने पूर्वोल्लिखित अपनी लंबी कविता 'सूरदासेर प्रार्थना' में



वैष्णव कवि से पूछा है—'सत्य करि कहो मोरे हे वैष्णव कवि, कोथा तुमि पेए छिले पई प्रेमच्छवि? कोथा तुमि शिखेछिले एई प्रेम-गान/ विरहतापित? हेर काहार नयान/ राधिकार अश्रु आँखे पड़े छिलो मने? विजन वसंत राते मिलन-शयने/ के तोमारे बंधे छिल छिल दुटिबाहु डोरे, आपनार हृदयेर आगाध सागरे/ रेखोछिल मग्न करि? एतो प्रेम-कथा/ राधिकार चित्त दीर्ण तीव्र व्याकुलता/ चुरि करि लइयाछ कार मुख, कार/ आँखि हते?' (सच बताओ, हे वैष्णव कवि! तुमने कहाँ पाई यह प्रेम-छवि? यह विरह-तप्त गान कहाँ सीखा तुमने? किसकी आँखें देखकर तुम्हें राधिका के अश्रुसिक्त नयन याद आए? निर्जन वसंत-रात्रि की मिलन-शैया पर किसने तुम्हें अपनी बाँहों में बाँधा था? किसने तुम्हें अपने हृदय के अगाध सागर में डुबो रक्खा था? ऐसी प्रणय-कथा, राधिका की चित्त विदीर्ण कर देने वाली ऐसी व्याकुलता तुमने किसके मुख से, किसकी आँखों से चुरा ली थी? हे मोरे वैष्णव कवि...।)

यह अनायास ही नहीं है कि सूरदास में प्रवेश ही रवि ठाकुर की इन हृदय विदीर्ण कर देनेवाली पंक्तियों से होता है, जो नवलजी ने अनुक्रम के ठीक बाद वाले पृष्ठ पर टॉक दी हैं! भावमूर्ति सूरदास के 'रससागर' में धँसकर डूबने से पहले इससे सही कूल कोई और नहीं हो सकता था! कहना न होगा कि यही वह छोटी-सी 'तरणि' भी है, जिस पर सवार हो सजग आस्वादक 'सूरसागर' के इन चुनिंदा पदों के रसामृत

का पान करते हुए पार उतर सकता है! सुविदित है कि निरालाजी 'तुलसीदास'-जैसी एक लंबी कविता (जिसे वे 'बैलेड' कहते थे) सूरदास पर भी लिखना चाहते थे। वात्सल्य की स्वाभाविक मार्मिकता और आल्हाद के बाद, राधा-कृष्ण और गोपिकाओं के वय-संधि-प्रेम की उद्दाम और वेधक आनंदमय पीर आखिर सूर की गहन आत्माभिव्यक्ति नहीं तो और क्या है? उन्होंने अपने लौकिक प्रेम का सर्वस्व राधा-कृष्ण के श्रीचरणों में समर्पित करके यह जो विलक्षण आत्मोत्सर्ग किया है, यह भक्ति-गान भी तो उनकी इस आत्माभिव्यक्ति के एक भिन्न रूप के सिवा भला और क्या है! पुनः रवि ठाकुर के ही शब्दों में—

देवतारे याहा दिते पारि, दिई ताई प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाई ताई दिई देवतारे, आर पाबो कोथा? देवतारे प्रिय करि, प्रियेरे देवता!

जो वस्तु हम देवता को दे सकते हैं, वही अपने प्रिय को देते हैं। जो अपने प्रियजन को दे सकते हैं, वही देवता को देते हैं! उसे हम भला और पाएँगे भी कहाँ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं, प्रिय को देवता! ऐसा आत्मोत्सर्ग हिंदी में सूरदास, निराला और मुक्तिबोध के सिवा भला और कहाँ! कहना न होगा कि महान कविता का जन्म ऐसे आत्मोत्सर्ग और उसकी सच्चाई से दग्ध ऐसी आत्माभिव्यक्ति के सर्जनात्मक द्वंद्व के बीच ही कहीं होता है! नवलजी ने 'वात्सल्य', 'प्रेम' और 'भक्ति' शीर्षक तीन अध्यायों में 'सूरसागर' के बेहतरीन पदों को लेकर उनकी अद्भुत आस्वादपरक व्याख्या करते हुए, सूर-काव्य की प्रायः सभी विशेषताओं का पूरी बारीकनिगारी से ऐसा दिग्दर्शन कराया है कि रंच-मात्र को भी रस-भंग नहीं होने पाता! समालोचना से फिर और क्या चाहिए!

सूरदास/नंदकिशोर नवल/राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 / मूल्य : ` 200

वी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096

# हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ : एक नई दृष्टि

रामनिहाल गुंजन

हिं

दी आलोचना के क्षेत्र में काफी समय से सक्रिय आलोचकों में डॉ. निर्मला जैन एक सुपरिचित नाम है। वे डॉ. नगेंद्र की परंपरा को आगे बढ़ाने में विश्वास करती हैं। उन्होंने हिंदी आलोचना के अलावा हिंदी कथा-साहित्य, पाश्चात्य साहित्य-चिंतन और आधुनिक साहित्य के क्षेत्र में भी अपनी कलम चलाई है। इस दृष्टि से हिंदी आलोचना के विकास में उनके महत्वपूर्ण योगदान को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। डॉ. निर्मला जैन का मानना है कि 'आलोचना के विकास में गंभीरता से की गई पुस्तक समीक्षाओं की भूमिका असंदिग्ध है। ऐसी ही समीक्षाओं के बीच से अक्सर आलोचना का विकास होता है, बशर्ते समीक्षक की वस्तुनिष्ठता और ईमानदारी संदेहातीत हो।' जाहिर है निर्मलाजी आलोचना-कर्म को गंभीरता से लेती हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी' (1992) की भूमिका में लिखा था कि "आलोचना का सही संदर्भ और उसकी सार्थकता की सच्ची कसौटी रचना ही हो सकती है और होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समकालीन रचनात्मक साहित्य की समीक्षा सार्थक आलोचना की पहली जिम्मेदारी है।" दरअसल डॉ. निर्मला जैन ने अपनी उक्त पुस्तक के जरिए हिंदी आलोचना के इतिहास पर गंभीरता से विचार किया था और इस अर्थ में वह हिंदी आलोचना का पहला पाठ था, जिसका दूसरा संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण वर्ष 2012 में 'हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ' के रूप में नए शीर्षक सामने आया है।

यों प्रस्तुत संस्करण की भूमिका में निर्मलाजी ने स्वीकार किया है कि 1992 और 2012 के बीच हिंदी आलोचना की दुनिया में

कुछ खास घटित नहीं हुआ है। उन्होंने इस प्रसंग में उत्तरआधुनिकता के उद्भव की चर्चा की है और बतलाया है कि उससे हिंदी आलोचना का विकास बाधित ही हुआ है। उनका संकेत इस बात की ओर भी है कि उसके कारण कई गंभीर आलोचक अपने आलोचना-कर्म से निरत भी हो चुके हैं। उनका यह भी मानना है कि "जीवन में मूल्य-बोध और विचारधारात्मक चिंतन का जिस हद तक क्षरण हुआ है, उसका प्रभाव साहित्यिक गतिविधि में सबसे अधिक आलोचना-कर्म पर पड़ा है। उसके मुख्य दायित्व-प्रतिमानों का कमोवेश निर्धारण पूर्ववर्ती रचनाओं का पुनःपाठ, नई कृतियों की विवेकसम्मत व्याख्या और अंततः उनका मूल्यांकन गौण हो चले हैं। बचा है प्रायोजित विवरणधर्मी प्रशंसात्मक समीक्षाओं का अंबार।" (दूसरे संस्करण की भूमिका, पृ. 9)। जाहिर है निर्मलाजी ने आज के आलोचना-क्षेत्र को



अकालग्रस्त घोषित किया है जो कहीं से उचित नहीं है। इधर आलोचना या समीक्षा की कई महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं तथा कई नए-पुराने आलोचकों के समीक्षात्मक और आलोचनात्मक निबंध भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, जिनको जानबूझकर नजर-अंदाज किया गया है। इस दृष्टि से निर्मलाजी की निराशा निराधार है। वैसे उन्होंने अनेकत्र 'आलोचना' की जगह 'समीक्षा' शब्द का प्रयोग किया है, जो खटकता है।

प्रस्तुत पुस्तक पंद्रह अध्यायों में विभक्त है, जिसमें 19वीं शताब्दी से लेकर 21वीं शताब्दी के प्रारंभ तक हिंदी आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय लेखकों और आलोचकों की आलोचनात्मक कृतियों पर विचार किया गया है। इस प्रकार भारतेंदु-काल से लेकर उत्तरआधुनिक काल तक के आलोचनात्मक परिदृश्य की चर्चा की गई है। इस दृष्टि से पुस्तक में निम्नलिखित अध्याय हैं—द्विवेदी-युग की आलोचना, शुक्ल-युग की आलोचना, शुक्लोत्तर आलोचना, प्रगतिशील समीक्षा, नई समीक्षा, नाट्य समीक्षा, कथा समीक्षा, सातवां दशक और उसके बाद, उत्तरआधुनिकता के साये में, मार्क्सवादी आलोचना का परिशिष्ट, परंपरा के अवशेष, 21वीं शती में प्रवेश, विमर्शवादी आलोचना-1 और विमर्शवादी आलोचना-2 तथा वर्तमान परिदृश्य। पूरी पुस्तक 208 पृष्ठों में फैली हुई है। निर्मलाजी ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से बीसवीं शती की आलोचना की जिन प्रवृत्तियों के विरासत रूप में होने का उल्लेख किया है वे हैं—1. सैद्धांतिक ग्रंथ और निबंध, 2. विद्वत्तापूर्ण शोध-निबंध, 3. साहित्येतिहास ग्रंथ और पुस्तक समीक्षाएं। इसके अंतर्गत भारतेंदु का निबंध 'नाटक' (1883), जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'छंद

प्रभाकर' (1897), 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (1897) में प्रकाशित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का लेख 'समालोचना', शिवसिंह 'सरोज' (1878) नामक 'साहित्येतिहास ग्रंथ' तथा बालकृष्ण भट्ट के 'हिंदी प्रदीप' (1886) में प्रकाशित लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा और 'प्रेमघन' की पत्रिका 'आनंद कादंबिनी' में प्रकाशित उसी नाटक की समीक्षा। इसी क्रम में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'सरस्वती' और जयपुर से 1902 में प्रकाशित होने वाली आलोचना की पत्रिका 'समालोचक' का उल्लेख निर्मला जी ने किया है, जिनका पुस्तक-समीक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। निर्मलाजी का मानना है कि "हिंदी आलोचना की नींव सही अर्थों में इन्हीं लेखों से पड़ी। हिंदी कवियों और उनके साहित्य को विषय बनाकर यह शुरुआत मिश्रबंधुओं ने की।" (पृ. 16)। इस दृष्टि से मिश्रबंधुओं के द्वारा लिखी और 'सरस्वती' (1900) में 'हमीर हठ' और श्रीधर पाठक पर और 'समालोचक' (1904) में प्रकाशित महाकवि भूषण पर उनके लेख विशेष रूप से उल्लेख्य प्रमाणित हुए। इनके अलावा निर्मलाजी ने समीक्षा के क्षेत्र में जिन पत्रिकाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका की चर्चा की है वे हैं—'सुदर्शन', 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार', 'भारत मित्र', 'इंदु', 'छत्तीसगढ़ मित्र'। वैसे निर्मलाजी ने मिश्रबंधुओं के इतिहास-ग्रंथ 'मिश्रबंधु विनोद' (1913) की चर्चा इस प्रसंग में, खासतौर पर की है, और लिखा है—“साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा का विकास भी 'मिश्रबंधु विनोद' के प्रकाशन से हुआ। इस ग्रंथ में पहली बार 3,757 लेखकों का इतिवृत्त तीन भागों में सामने आया। दूसरे संस्करण (1925) में लेखक-संख्या बढ़कर 4,500 हो गई और इतिहास का विभाजन चार भागों में कर दिया गया।" (पृ. 19)। उल्लेखनीय है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मिश्रबंधुओं के साहित्येतिहास-लेखन की विशेषताओं का उल्लेख अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (1929) में नहीं के बराबर किया था और उनके बाद के साहित्येतिहासकार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने भी उन्हें नजरअंदाज करने का प्रयास किया था। ऐसे में डॉ. निर्मला जैन के इस रचनात्मक प्रयत्न की आशंसा की जा सकती है।

यों प्रस्तुत पुस्तक में आगे चलकर निर्मलाजी ने द्विवेदी-युग और शुक्ल-युग की आलोचना पर विस्तार से विचार किया है और आचार्य रामचंद्र शुक्ल (1884-1940) के आलोचना-कर्म के महत्त्व के साथ रेखांकित करते हुए लिखा है—“आचार्य रामचंद्र शुक्ल अकेले ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने परंपरागत आलोचना-शैलियों के प्रति सम्मान-भाव रखकर भी अपने युग की आवश्यकताओं को पहचाना और उसके अनुरूप सही अर्थों में हिंदी की अपनी आलोचना-शैली को जन्म दिया।” (उप., पृ. 40)। उन्होंने इस अर्थ में शुक्लजी को आलोचना के इतिहास में युगपुरुष माना है और उनकी आलोचना को प्रस्थान-बिंदु। इसी प्रकार प्रगतिशील समीक्षा, नई समीक्षा, नाट्य-समीक्षा और कला-समीक्षा पर अलग-अलग विचार करते हुए उन्होंने आलोचना की मुख्यधारा के विकास की चर्चा की है और इस प्रसंग में शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त और रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी आलोचकों के अवदानों का उल्लेख करने के क्रम में डॉ. रामविलास शर्मा की शुक्लोत्तर-युग के महत्त्वपूर्ण आलोचक के रूप में विशेष रूप से चर्चा की है और लिखा है—“आचार्य शुक्ल की विरासत को आगे बढ़ाते हुए डॉ. शर्मा ने साहित्य की जनवादी परंपरा को उजागर करने का प्रयास किया है। 'भारतेंदु-युग' के द्वारा डॉ. शर्मा ने अपनी परंपरा की एक अर्ध-विकृत और उपेक्षित कड़ी को प्रेरणादायिनी रूप में उपस्थित किया। इसी प्रकार उन्होंने प्रेमचंद के साहित्य के सामाजिक अर्थों और कलात्मक तत्त्वों का उद्घाटन करके प्रेमचंद का पुनर्मूल्यांकन किया, जिसके द्वारा द्वितीय श्रेणी के कलाकार समझे जाने वाले प्रेमचंद प्रथम पंक्ति में माने जाने योग्य प्रमाणित हुए। निराला के महत्त्व की प्रतिष्ठा का श्रेय तो असंदिग्ध रूप से रामविलास शर्मा को ही है।” (पृ. 90)।

डॉ. निर्मला जैन ने पुस्तक में रामविलास शर्मा के बाद मुक्तिबोध और नामवरसिंह के आलोचना-कर्म को महत्त्व के साथ रेखांकित किया है। मुक्तिबोध के बारे में उन्होंने लिखा है कि “मुक्तिबोध आस्था से मार्क्सवादी थे, किंतु नई कविता के मूल्यांकन को लेकर वे पुराने प्रगतिवादी आलोचकों से अलग थे।...मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी आलोचना को

सतहीपन से उबारकर गहराई तक ले जाने का प्रयास किया।” (पृ. 97)। इसी प्रकार नामवरसिंह के प्रसंग में उनके शब्द हैं—“हिंदी में आधुनिक आलोचकों में नामवरसिंह का स्थान इस दृष्टि से विशिष्ट है कि वे समाजवादी जीवन-दृष्टि और नई कविता की भाव-भूमि के समवेत बोध को लेकर आलोचना में प्रवृत्त हुए। अपने पूर्ववर्ती प्रगतिवादी आलोचकों से उनकी भिन्नता इस बात में है कि उन्होंने नई कविता को सहानुभूति से देखा।” (पृ. 99)। यों डॉ. जैन ने नामवरसिंह की पुस्तकों—‘कविता के नए प्रतिमान’ (1968) और ‘दूसरी परंपरा की खोज’ (1980) के महत्त्व का अलग से प्रतिपादन किया है, लेकिन सच पूछें तो नामवरजी अपनी इन्हीं दोनों किताबों के कारण विवादास्पद भी हुए। इसी क्रम में उन्होंने नामवरसिंह की वर्ष 2005 और वर्ष 2010 में प्रकाशित आलोचना की नई पुस्तकों की भी चर्चा की है जिससे स्पष्ट होता है कि नामवरजी के आलोचना के क्षेत्र में किए गए समग्र अवदान की चर्चा को दूसरे संस्करण में निर्मलाजी ने अलग से जोड़ा है जबकि वे रामविलास शर्मा की परवर्ती आलोचना-पुस्तकों पर लिखने से चूक गई हैं। वैसे निर्मलाजी ने जहां नई समीक्षा के प्रसंग में अज्ञेय, विजयदेवनारायण साही, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, शमशेरबहादुर सिंह, धर्मवीर भारती और गिरिजा कुमार माथुर के आलोचना-कर्म का उल्लेख किया है, उन्होंने साही और शमशेर के अवदानों की विशेष रूप से चर्चा की है। साही के बारे में उन्होंने लिखा है—“साही ने आलोचक की तरफ से कोई बड़ा दावा नहीं किया। वे इस बात को बखूबी समझते थे कि आलोचना किसी साहित्यिक कृति की संवेदना को जबर्दस्ती खींचकर पाठक तक पहुंचाने का काम नहीं कर सकती। वह अधिक-से-अधिक उसे विविध प्रकार के पूर्वग्रहों से मुक्त कर एक उचित तत्परता की अवस्था में छोड़ सकती है।” (पृ. 119)। शमशेरबहादुर सिंह के संबंध में उनका मानना है कि “अपनी कविताओं के समान ही आलोचनाओं के द्वारा भी 'कवियों के कवि' के रूप में वे सामने आते हैं। कला की जैसी बारीक परख शमशेर में है वैसी अन्यत्र नहीं मिलती—अज्ञेय में भी नहीं। 'दूसरा अंक' में उन्होंने जो कवि-वक्तव्य दिया है वह एक सच्चा कलाकार ही दे सकता



था।' (पृ. 122)।

जहां तक नाट्य-समीक्षा का प्रश्न है, निर्मलाजी ने इसके आरंभ का श्रेय भारतेन्दु को दिया है और बाद में उन्होंने जयशंकर प्रसाद को इसके सैद्धांतिक प्रश्नों से जोड़ा है। आगे चलकर इस क्षेत्र में जिन प्रमुख रचनाकारों ने काम किया उनमें नेमिचंद्र जैन का नामोल्लेख खासतौर पर किया गया है, जिनकी 'रंगदर्शन' नामक पुस्तक के महत्त्व की चर्चा की जाती है। इस क्षेत्र में काम करने वाले अन्य उल्लेखनीय लेखक हैं लक्ष्मीनारायण लाल, सत्येंद्र तनेजा, जयदेव तनेजा और गिरीश रस्तोगी। इसी प्रकार कथा-समीक्षा में मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी, रामकुमार, मार्कंडेय, कृष्णा सोबती, अमरकांत, रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त और नामवरसिंह की चर्चा निर्मला जैन ने विशेष रूप से की है, जिनकी कथा-समीक्षा के विकास में अहम भूमिका रही है। परवर्ती समीक्षकों में उन्होंने मलयज, रमेशचंद्र शाह, उदयप्रकाश, राजेश जोशी, नीलाभ आदि का जिक्र किया है। इस प्रसंग में मधुरेश, गोपाल राय, ओमप्रकाश ग्रेवाल, देवीशंकर अवस्थी, चंद्रभूषण तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी, डॉ. नागेश्वर लाल आदि अनेक नए और पुराने आलोचकों की चर्चा जानबूझकर छोड़ दी गई है। डॉ. निर्मला जैन ने बड़ी ऐतिहासिक भूल यह की है कि उन्होंने आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के इतिहास लेखन की चर्चा न तो आरंभ में की है और न बाद में ही। उनकी पुस्तक 'साहित्य का इतिहास-दर्शन' (1960) आज भी आचार्य शुक्ल के इतिहास-ग्रंथ के बाद की एक महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। वैसे भी निर्मलाजी ने जहां मार्क्सवादी आलोचकों की चर्चा की है वहां उन्होंने अपनी निष्पक्ष आलोचकीय दृष्टि का परिचय नहीं दिया है। फिर भी पुस्तक की उपयोगिता अपनी जगह है।

हिंदी आलोचना का दूसरा पाठ/डॉ. निर्मला जैन/राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 450

नया शीतलटोला, आरा-802301 (बिहार)

आलोचना

# बाजारवाद के विरोध में खड़ी युवा-पीढ़ी की कहानियां

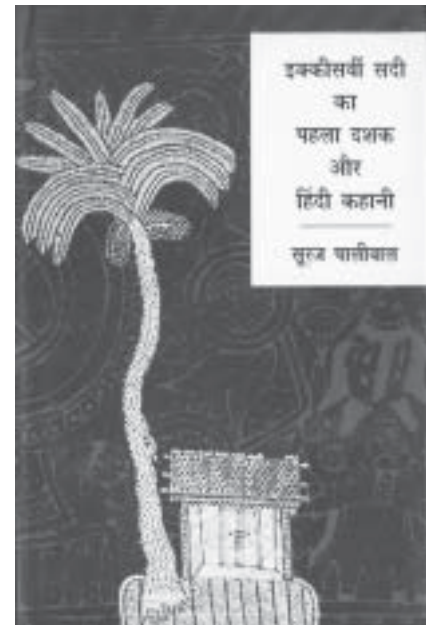
अरुण होता

ना

मवर सिंह, मार्कंडेय, देवीशंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा, सुरेंद्र चौधरी, चंद्रभूषण तिवारी, विजयमोहन सिंह, विश्वनाथ त्रिपाठी, गोपाल राय, पुष्पपाल सिंह आदि कथालोचकों के बाद का परिदृश्य लगभग खाली है। इस खालीपन को भरने के लिए सूरज पालीवाल अपनी अंदाज-ए-बयां के साथ सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'इक्कीसवीं सदी का पहला दशक और हिंदी कहानी' पेश कर रहे हैं; सूरज पालीवाल मूलतः कथालोचक हैं। रेणु, मन्नू भंडारी और समकालीन कथा-साहित्य के विशेषज्ञ भी; हालांकि उनकी कुछ कहानियां भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

इक्कीसवीं सदी का पहला दशक अपने आपमें महत्त्वपूर्ण है। इस दशक में भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण ने भारत तथा पूरी दुनिया में अपने वर्चस्व को कायम करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। पूंजी और बाजार के चक्रव्यूह में मानवीय संबंध टूटते गए, दरकते गए और कराहते रहे। मानव मूल्यों पर बात करना पिछड़ेपन का द्योतक समझा जाने लगा। मनुष्य से मनुष्यता गायब होती गई और वह व्यक्ति बन गया। नई अर्थव्यवस्था फलने-फूलने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि अमीर अधिक अमीर बना और गरीब अधिक गरीब। बाजारवादी अर्थव्यवस्था ने सबका मूल्य तय कर दिया। उसने बाजार को अपना हथियार बनाया। बाजार ने सबको लुभाया। उसने सबको अपना दास बना लिया। बाजार में सब कुछ बिकने लगा। वस्तुओं के साथ-साथ मनुष्य, मानवीय नाते-रिश्ते, मानवीय आस्था और विश्वास भी। यह इसलिए कि बाजार की नजर में सब कुछ बिकाऊ है, सब कुछ

'प्रॉडक्ट' हैं। पूंजी और बाजार की इस सांठ-गांठ में मनुष्य खिलौना मात्र बना हुआ है। भूमंडलीकरण की सचाई है भूमंडीकरण। इसके प्रताप से पूरी मानव-जाति आतंकित है। सशंकित है। यह हमारे समय का सच है। इसे टुकराया नहीं जा सकता है। इसके विरोध में आप लाखों बार चीखें और चिल्लाएं लेकिन उससे अपने को अलग करना मुश्किल है। बाजार गांवों, शहरों, महानगरों, मंडियों तक सीमित नहीं रह गया है। वह हमारे ड्राइंग-रूम या घर तक भी सीमित नहीं है। दुःख की बात है कि बाजार हमारे अंदर निवास करने लगा है। हमारी अंतर्वृत्तियों में घुसा हुआ है। सूरज पालीवाल लिखते हैं— "इस बाजारवाद ने अंधी दौड़ शुरू की है, जिसका कोई अंत नहीं है। इस दौड़ में जो दौड़ रहा है, वह भी परेशान है और जो इसे देख भर रहा है वह भी परेशान है। संतोष और सुख जैसे भाव बाजारवाद ने समाप्त



कर दिए हैं। यह दुखद है कि बाजारवाद के विरोध में हिंदी की युवा पीढ़ी ने खूब कहानियां लिखी हैं।” (पृ. 157)

आलोचक सूरज पालीवाल ने इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक की बीस कहानियों को चुनकर उनका गंभीर अध्ययन, विश्लेषण और विवेचन किया है। तमाम पत्र-पत्रिकाओं, संकलनों, संग्रहों, विशेषांकों तथा पत्रिकाओं से गुजरकर केवल कहानी को ही सामने रखकर बिना किसी पूर्वाग्रह के कहानियों का चयन किया है। कहानी पढ़ते समय उन्होंने अपने सामने न चर्चित कहानीकार को महत्त्व दिया और न ही पत्रिका के प्रसिद्ध संपादक को ध्यान में रखा। आधार के रूप में बस कहानी ही रही। कहानी खरी उतरी तो सूरजजी ने उस पर लिखा अन्यथा कहानी छोड़ दी गई। कहानी-चयन और मूल्यांकन के दौरान लेखक ने ‘अपने समय के जरूरी और केंद्रीय सवाल’ पर भी पूरा ध्यान दिया है। समय और समाज के मूलभूत प्रश्नों और चुनौतियों का सामना करते हुए लेखक ने कहानीकार की चिंताओं पर आलोकपात किया है। प्रसंगतया उल्लेख किया जा सकता है कि युवा रचनाकारों की कहानियों की आलोचना बड़े साहस का काम है। कथालोचकों में अधिकांश इस आलोचना-कर्म से कतराते हैं। युवा-पीढ़ी की रचनाओं पर लिखना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ समझते हैं। परंतु सूरज पालीवाल ने ऐसे कुछ युवा कथाकारों पर भी लिखने का साहस किया है जिनकी अकेली या एक-दो कहानियां ही प्रकाशित हुई हैं। मसलन, शिल्पी की कहानी ‘पापा, तुम्हारे भाई’, रामकुमार सिंह की ‘पूर्व संध्या और पांच यार’, स्नोवा बॉर्नो की ‘मुझे घर तक छोड़ आइए’, सोनी सिंह की ‘अपना कमरा’ आदि। रचनाकार की पहली कहानी प्रकाशित हुई और आलोचक अपने समय और समाज को सामने रखकर उसका विश्लेषण करे तो इससे रचनाकार का हौसला बुलंद होता ही है, साथ ही, साहित्यिक परिदृश्य स्वस्थ रूप प्राप्त करता है।

जहां तक मेरी जानकारी है, युवा पीढ़ी के कहानीकारों की रचनाधर्मिता को केंद्रित करते हुए सूरज पालीवाल की ‘इक्कीसवीं सदी का पहला दशक और हिंदी कहानी’ शीर्षक पुस्तक हिंदी में पहली बार आई है।

काशीनाथ सिंह, खगेंद्र ठाकुर, परमानंद श्रीवास्तव, रमेश उपाध्याय आदि ने हिंदी की युवा-पीढ़ी के कहानीकारों पर लेख लिखे हैं या साक्षात्कार में अपने विचार प्रकट किए हैं, लेकिन पुस्तकाकार में हिंदी कहानी की युवा-पीढ़ी की सामर्थ्य और सीमाओं को रेखांकित करने का श्रेय सूरज पालीवाल को ही प्राप्त है। दस वर्षों की कालावधि के बीस रचनाकारों की कहानियों पर बिना लाग-लपेट के जो विचार प्रकट किए गए हैं, उससे हिंदी कहानी का समेकित रूप प्राप्त होता है। 2001 से 2010 तक की 20 कहानियों के आधार पर युवा-पीढ़ी की प्रमुख चिंताओं, संवेदनाओं और सरोकारों को बड़ी शिद्दत के साथ उभारा गया है।

सवाल पूछा जा सकता है कि प्रत्यक्षा, नीलाक्षी सिंह, जयशंकर, सोनी सिंह, सत्यनारायण पटेल, मनोज पांडेय, राकेश मिश्र, कैलाश वनवासी, पंकज मिश्र, मो. आरीफ, गीत चतुर्वेदी आदि की अमुक कहानी क्यों चुनी गई, अमुक कहानी क्यों न ली गई, वह तो इससे भी अधिक प्रसिद्ध है! इस संदर्भ में इतना ही कहा जा सकता है कि आलोचक के अपने निकष होते हैं और उन्हीं पर वह विश्लेषणात्मक लेखन प्रस्तुत करता है।

कथालोचक सूरज पालीवाल का एक बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि वे कहानी का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं। रचनाकार की खूबियों को रेखांकित करते हैं। कहानीकार की खासियत को सामने लाते हैं जो उसे औरों से अलग करती है। दरअसल, आलोचक के लिए यह एक बड़ी चुनौती है। सुलझा हुआ आलोचक ही इस कठिन कार्य को रूपायित कर पाता है। कहानी के विश्लेषण के दौरान वह अपने समय और समाज का चित्रांकन करता जाता है। गीत चतुर्वेदी की कहानी ‘सावंत आंटी की लड़कियां’ के विवेचन के दौरान सूरज पालीवाल ने लिखा है—“जब मैंने पहली बार उनकी यह कहानी ‘सावंत आंटी की लड़कियां’ पढ़ी तो मैं दंग रह गया कि क्या इक्कीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मजदूरों के घर-परिवार और बच्चों की निजी जिंदगी पर इतनी अच्छी कहानी भी लिखी जा सकती है। पिछली शताब्दी में हम क्रांतिकारी कहानियां लिखते रहे...अब जब भूमंडलीकरण की जारज संतान निजीकरण

का बिगड़ते रूप पूरे औद्योगिक समाज को दीमक की तरह चाट रहा है, तब मजदूरों पर लिखना बड़ी चुनौती बनकर उभरा है।” (पृ. 13)

प्रभातरंजन की कहानी ‘जानकी पुल’ चर्चित रही है। पुल विकास का सूचक है। लेकिन यह विकास कहीं विनाश का संदेश तो लेकर नहीं आता है। क्या यह गांव को गांव रहने देता है? मनुष्य को मनुष्य रहने देता है? लेकिन कहानी में जानकी पुल कहीं नहीं है। सपनों में है। यह सपना बीस वर्षों से जीवित है। बीस वर्ष का यह समय कई अर्थों में महत्त्वपूर्ण है। आलोचक ने ‘जानकी पुल’ का पारदर्शी विश्लेषण करते हुए शुरू में ही लिखा है—“प्रभात रंजन बीस वर्ष पूर्व की ऐसी घटनाओं को उठाते हैं, जिन्होंने उस समय उन्हें बहुत प्रभावित किया था और अचानक बीस वर्ष बाद उन्हीं घटनाओं को फिर याद करके देश, नगर और गांव के विकास की स्थितियों पर विचार करते हैं। यह केवल कहानी कहने भर का तरीका नहीं है, बल्कि कहानी के माध्यम से उदारीकरण और उसके बाद के सामाजिक यथार्थ को उभारने की कला है। प्रभात रंजन की यह कला कहानी पर चढ़कर बोल रही है यानी वे छोटे-छोटे विवरणों से कहानी को बड़ा बनाते हैं।” (पृ. 21) इस कहानी में एक ओर गांव को मूलभूत सुविधाओं से वंचित होने का आक्रोश है तो दूसरी ओर दुनिया में तमाम आशातीत परिवर्तन संघटित होने पर आश्चर्य है। आलोचक ने इस कहानी के आधार पर जो स्थापनाएं दी हैं वे हवाई नहीं हैं बल्कि मूल पाठ से उन्हें सिद्ध किया है। उसने कहानी में अभिव्यक्त विचारों को अत्यंत प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। कहानी के निहितार्थों को उद्घाटित किया है।

पंकज मित्र एक चर्चित कहानीकार हैं। पालीवालजी ने उनकी कहानी ‘क्विज मास्टर’ के आधार पर कुमार के बहाने समकालीन युवा पीढ़ी की अत्यधिक अर्थ-लिप्सा की प्रवृत्ति को उद्घाटित किया है। अपनी रुचि, पसंद आदि को त्याग कर दिन-रात अर्थ के पीछे भागना, केबीसी (कौन बनेगा करोड़पति) की हॉर्स सीट के लिए उत्कट लालसा प्रकट करना यानी धन की

अंधी दौड़ में शामिल होना युवा-समाज की प्राथमिकता बनते जा रहे हैं। सूरज पालीवाल लिखते भी हैं—“यह धन की अंधी दौड़ है। पहले नौकरी पाओ, फिर ट्यूशन करो और फिर केबीसी, जमीन की खरीद-फरोख्त, शेयर मार्केटिंग तथा ब्याज पर पैसा उठाने जैसे धंधों में जाने की अनंत यात्रा।” (पृ. 163)

सोनी सिंह की ‘अपना कमरा’, आरती झा की ‘हम लड़कियां’, दीपक श्रीवास्तव की ‘सत्ताईस साल की सांवली लड़की’, स्नोवा बॉर्नो की ‘मुझे घर तक छोड़ आइए’, प्रत्यक्षा की ‘फूलपुर की फुलवरिया मिसराइन’, नीलाक्षी की ‘रंगमहल में नाची राधा’, अल्पना मिश्र की ‘मुक्ति प्रसंग’, शिल्पी की ‘पापा, तुम्हारे भाई’, सत्यनारायण पटेल की ‘भेम का भेरू मांगता कुल्हाड़ी ईमान’, चंदन पांडेय की ‘सुनो’ कहानियों के आधार पर आलोचक ने स्त्री-विमर्श के विविध आयामों को उघाड़ने का सफल प्रयास किया है। कुल बीस में से ग्यारह कहानियां स्त्री-विमर्श से संबंधित हैं। इसका आशय क्या है—आलोचक का नारी-विमर्श संबंधी कहानियों के प्रति अत्यधिक आग्रह है अथवा इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में युवा रचनाकारों पर नारी-विमर्श अत्यधिक हावी रहा है। आशय चाहे जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि नारी-विमर्श एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में उभरता है। उल्लेखनीय है कि न तो रचनाकार की नारी-चिंता और न ही आलोचक के नारी-विमर्श के विश्लेषण में कहीं कोई पुनरावृत्ति हुई है और न ही पिष्टपेषण। स्त्री की मुक्ति की कुंजी प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा प्रकट हुई है। कहीं अस्मिता की तलाश है तो कहीं पुरुष-वर्चस्व को चुनौती दी गई है। कहीं नारी-जीवन की करुण-गाथा का चित्रण हुआ है तो कहीं स्त्री-जीवन की विसंगतियां। महाविद्यालय की प्रोफेसर हो अथवा कालबेलियों की स्त्रियों का मुखर विरोध—सर्वत्र नारी-जीवन के विविध परिप्रेक्ष्य अंकित हुए हैं। एक बात और भी है इन तमाम कहानीकारों के साथ आलोचक ने भी स्त्री-मुक्ति को देह-मुक्ति का पर्याय नहीं माना है। बोल्डनेस के नाम पर उच्छृंखल यौनाचार को महत्त्व नहीं दिया है। युवा पीढ़ी के रचनाकारों के नारी-विमर्श का रेंज भी बड़ा व्यापक है। खाए-अघाए परिवार की नारी

का विमर्श नहीं है। न ही फैशन के नाम पर नारी-विमर्श को आधार बनाकर कहानियां लिखी गई हैं। स्त्री-मुक्ति की चिंता पुरुष और नारी दोनों को है। इसलिए सूरज पालीवाल ने एक ओर प्रत्यक्षा, नीलाक्षी, सोनी, अल्पना, शिल्पी, स्नोवा आदि की नारी की मुक्ति के प्रसंगों को उठाया है तो दूसरी ओर दीपक, सत्यनारायण, चंदन आदि के नारी-विमर्श को प्रस्तुत किया है। इससे आलोचक की इस दृष्टि का पता चलता है कि नारी-मुक्ति, नारी-विमर्श, नारी-निर्यातन, नारी-उत्पीड़न, नारी-शोषण आदि का मुद्दा एक सामाजिक मुद्दा है और कोई भी संवदेनशील जागरूक रचनाकार इस विषय पर सफलता के साथ चित्रण कर सकता है। आलोचक की दृष्टि में कहीं-न-कहीं यह भी विद्यमान है कि नारी ही नारी-चिंता पर कलम नहीं चला सकती है बल्कि पुरुष भी सफलता के साथ उसे व्यक्त कर सकता है।

अल्पना मिश्र की कहानी ‘मुक्ति प्रसंग’ की चर्चा के बहाने आलोचक की स्थापना है—“अल्पना मिश्र की कहानियों को पढ़ते हुए मुझे बार-बार यह लगा कि वे स्त्री-विमर्श और देह-विमर्श के हवाई मुद्दों से अलग हटकर स्त्री की उन तकलीफों को अपने लेखन का आधार बनाती हैं जिन तकलीफों से एक स्त्री का रोजाना मुकाबला होता है। इस प्रकार की तकलीफें तथाकथित स्त्री-विमर्श में पीछे छोड़ दी जाती हैं या फैशन के नाम पर अपने आप पीछे छूट जाती हैं क्योंकि वहां होड़ कुछ नया कर दिखाने की है।” (पृ. 105)

चंदन पांडेय की कहानी ‘सुनो’ में आई.ए.एस. अधिकारी मानस भ्रष्टाचार में लिप्त होकर डिफेंस मिनिस्ट्री की तमाम डील से अरबों कमाता है। अनाप-शनाप संपत्ति का मालिक बनता है। अदालत में उसके घोटालों की सुनवाई होने के पहले मानस की पत्नी नेहा को बताने के लिए कहा जाता है कि यू हैव बीन इन दिस प्रोफेशन ऑफ प्रास्टिच्यूसन फॉर लांग लांग इयर्स। इस पर आलोचक की टिप्पणी है—“यह नेहा का विश्वास है, जिसकी कीमत मानस ने हमेशा चाही और नेहा ने हमेशा चुकाई भी। यह स्त्री-विमर्श का नया अध्याय है। प्रेम विवाह और अपनी अलग दुनिया बसाने के बाद

भी स्त्री के दुखों में कोई परिवर्तन नहीं आया। हमारा समाज स्त्री से ही अपेक्षा रखता है कि अपने परिवार को बचाने के लिए सब कुछ को दांव पर लगा दे—नेहा यही करती है।” (पृ. 147)

परिवार में पल रही कुंठा और खांप पंचायत से पीड़ित युवती की दर्दनाक कहानी का रेखांकन शिल्पी की ‘पापा, तुम्हारे भाई’ में हुआ है। इस कहानी में पूरी परिवार-व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न खड़ा किया गया है। अपनी भतीजी के शरीर से चाचा सौदेबाजी करे तो बंजर रिश्ते का शर्म से तार-तार होना स्वाभाविक है। कहानी के अंत में अनीता द्वारा अपने मृत पिता से पूछे गए प्रश्न के बारे में आलोचक का इंटरप्रिटेशन है—“यह प्रश्न इसलिए और बड़ा हो जाता है क्योंकि पापा अब इस दुनिया में नहीं हैं, मृतकों से पूछे गए प्रश्न जिंदा लोगों के अस्तित्व पर गहरे सवाल उठाते हैं।” (पृ. 117)

सत्यनारायण पटेल अपनी पीढ़ी के निराला कहानीकार हैं। अक्सर उनकी कहानियां बहुआयामी होती हैं। सूरज पालीवाल ने सत्यनारायण पटेल की कहानी ‘भेम का भेरू मांगता कुल्हाड़ी ईमान’ के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ‘दलित पुरुष भी घर में उतना ही सामंत है, जितना सवर्ण।’ आदिवासी समाज में स्त्री की स्थिति, पुरुषतात्रिक समाज को उसकी चुनौती, अभाव और अशिक्षा से भरे आदिवासी जीवन की चर्चा के बहाने आलोचक ने हमारे समय और समाज की विडंबनाओं को अभिव्यक्त किया है तथा इस स्थिति के दुःखद कारकों को भी उद्घाटित किया है। मनुष्य विरोधी असमान सामाजिक व्यवस्था का उद्घाटन हुआ है।

आलोचक ने प्रत्येक कहानी के आधार पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, स्थापनाएं दी हैं, निहितार्थों का उद्घाटन किया है उनका यहां विवरण पेश करना न तो संभव है और न ही उचित। लेकिन इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि सूरज पालीवाल ने अपने आलोचकीय विवेक का पूरा परिचय दिया है। ‘अहो और वाह’ की शैली से अपने को अलग रखा है। तटस्थ और तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। प्रसंगतया अन्य प्रसिद्ध रचनाओं का उल्लेख किया है। इससे पाठक

के लिए समझने की सहूलियत होती है।

कैलाश वनवासी की 'बाजार में रामधन' शीर्षक कहानी ने हिंदी की दुनिया में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है। छोटी जोत का किसान रामधन बाजार के दबाव के सामने टिक नहीं पाता है। बैलों को न चाहते हुए भी बेचना पड़ता है। अपने बेटे मुन्ना और रामधन की मानसिकता में निहित पर्याप्त अंतर को आलोचक ने स्पष्ट किया है—

“एक ओर रामधन है तो दूसरी ओर मुन्ना। रामधन किसानी संस्कारों का आदमी है, जो वर्तमान परिवर्तनों और दबावों से अनभिज्ञ अपने अतीत से चिपका हुआ है...” (पृ. 21) पालीवालजी की मान्यता है—“कैलाश वनवासी की 'बाजार में रामधन' इसलिए बड़ी कहानी है कि इसमें झरती संवेदनाओं के बीच उन्हें सहेजने की असफल मानवीय समझ को बहुत करीने से उकेरा गया है।” (वही) मनोज कुमार पांडेय की 'शहतूत' कहानी में आलोचक ने जातिवाद के दंश पर प्रकाश डाला है। जातिवाद की मौजूदगी से सवर्ण और दलितों में सामंजस्य स्थापित नहीं हो पा रहा है। घृणा, हिंसा, दमन, शोषण के चलते समाज लुंज-पुंज हो रहा है। मो. आरिफ की 'तू' कहानी भी जाति-व्यवस्था पर कुठाराघात करती है। आलोचक ने लिखा है—“जातिवाद की तू मौसम की तू से ज्यादा खतरनाक है। दलित और स्त्री विमर्श के दौर में इस कहानी का महत्त्व इसलिए भी है कि इसमें स्त्री की कोई जाति नहीं है।” (पृ. 99)

आज आलोचना में अराजकता का बोलबाला है। आलोचक का ध्यान रचना पर न रहकर रचनाकार पर केंद्रित हो रहा है। रचनाकार के गुण-दोषों को उघाड़ा जा रहा है। ऐसे में, पाठकेंद्रित आलोचना के माध्यम से सूरज पालीवाल आलोचना को स्वस्थ दिशा प्रदान करने का प्रयास करते हैं। व्यावहारिक आलोचना का सुंदर उदाहरण भी पेश करते हैं। यदा-कदा सैद्धांतिकी पर भी प्रकाश डालते हैं। एक बात और भी है कि सूरज पालीवाल की आलोचकीय भाषा में जीवंतता है, ऊबाऊपन से दूर और रोचकता से युक्त। प्रवाहधर्मिता इस भाषा का गुण है। फलस्वरूप, पाठक एक ही बैठक में पूरी किताब पढ़ सकता है। दरअसल,



आलोचना भी एक रचना तभी बन सकती है यदि उसमें पांडित्य प्रदर्शन की कोई संसा न हो। खुशी की बात है कि सूरज पालीवाल को ऐसा कोई मोह नहीं है।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सूरज पालीवाल की यह पुस्तक इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक की हिंदी कहानियों के आधार पर समय और समाज की शिनाख्त करने वाली एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। इसमें युगीन संदर्भों में कहानियों का विवेचन किया गया है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि “अपने समय की शिनाख्त करते हुए सूरज पालीवाल अपनी नजर भविष्य पर रखते हैं और वर्तमान को केंद्र में रखते हुए जरूरत पड़ने पर पीछे लौटने में भी कोई गुरेज नहीं करते। इस तरह उनकी आलोचना में समय अपनी समग्रता में आता है यद्यपि उसका केंद्र वर्तमान ही रहता है। इसी तरह उनकी कथा-साहित्य-विवेचना का देश, सामान्यतया हिंदी प्रदेश रहता है किंतु प्रसंग की जरूरत के अनुसार वे हिंदीतर भारतीय साहित्य और विदेशी रचना संसार को संदर्भबद्ध करने में भी नहीं चूकते।”

इक्कीसवीं सदी का पहला दशक और हिंदी कहानी/सूरज पालीवाल/वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 295

2 एफ, धर्मतल्ला रोड, कस्बा, कोलकाता-700042, मो. 09434884339

## महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की प्रकाशन योजना के अंतर्गत प्रकाशन

1. **The First Published anthology of Hindi Poets**, Imre Bangha, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 225/-
2. **द्विजदेव ग्रंथावली**, आ. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 200/-
3. **स्वच्छंद**, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 175/-
4. **अंधेरे में** (द्विभाषिक), डॉ. कृष्ण बलदेव वैद, रेनबो प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
5. **कविता का शुक्लपक्ष**, बच्चन सिंह, अवधेश प्रधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 325/-
6. **राकेश समग्र**, डॉ. नंदकिशोर नवल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
7. **जीवन के बीचोंबीच**, अशोक वाजपेयी/रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-
8. **पंत सहचर**, अशोक वाजपेयी, अपूर्वानंद, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
9. **छंद-छंद पर कुमकुम**, डॉ. वागीश शुक्ल, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 375/-
10. **कविता नदी**, प्रयाग शुक्ल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 400/-
11. **अंतर्लोक** (अध्यात्म सम्बन्धी कविताएँ), प्रो. नंदकिशोर आचार्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 250/-
12. **अंतःकरण का आयतन**, अशोक वाजपेयी, रेनाता चेकाल्स्का, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 395/-
13. **रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने— एक संस्मरण**, मनोहरश्याम जोशी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 150/-
14. **स्मृति, मति और प्रज्ञा** : धर्मपाल से उदयन वाजपेयी की बातचीत, उदयन वाजपेयी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 125/-
15. **हिंदी प्रयोग : एक शैक्षिक व्याकरण**, डॉ. पी.सी. जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य 350/-

# किस्सा कोताह या किस्सा तवील ?

अजित कुमार

‘कि

स्सा कोताह’ का शाब्दिक अर्थ तो है—‘छोटा, संक्षिप्त या कम किस्सा’ जो इस किताब के नातिदीर्घ या सामान्य आकार को देखते हुए बिलकुल सटीक, उचित और उपयुक्त समझा जाना चाहिए लेकिन इसकी पहंच, व्याप्ति और फैलाव पर गौर करें तो सचमुच यह ‘किस्सा तवील’ यानी ‘विस्तृत और लंबा-चौड़ा पवारा’ मालूम होगा जिसके अनेक छोर और सिलसिले यहां-वहां फैले-बिखरे नजर आएंगे। कोई चाहे तो इसे शैतान की आंत जैसा पेचीदा भी कह सकेगा। इसमें जगहों, लोगों, परिवारों, प्रसंगों, नियतियों, आकांक्षाओं, इतिहासों, सच्चाइयों, कल्पनाओं आदि का ताना-बाना कुछ इस ढब से गुंथा हुआ है कि एक बार पढ़ चुकने के बाद आप इसे फिर-फिर पढ़ना चाहेंगे।

इस लिहाज से भी यह उस फर्क को यदि पूरी तरह मिटाने वाली नहीं, तो कम-से-कम धुंधला बनाने वाली किताब जरूर है जो हिंदी के सर्वप्रमुख आलोचक आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता और कहानी के बीच किया है। उनके शब्द हैं—“कविता और कहानी का अंतर स्पष्ट है। कविता सुनने वाला किसी भाव में मग्न रहना चाहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्य सुनना चाहता है। पर कहानी सुनने वाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुनने वाला कहता है—‘जरा फिर तो कहिए।’ कहानी सुनने वाला कहता है—‘हां। तब क्या हुआ है?’” (‘कविता क्या है?’, चिंतामणि, भाग 1)

यह मान भी लें कि आचार्य शुक्ल के समय से हिंदी बहुत आगे बढ़ आई है और ‘कविता-कहानी’ के बीच आज वह उनकी भांति ‘स्थूल अंतर’ नहीं करती लेकिन काव्य-दृष्टि और कथा-दृष्टि के बीच जो झीना किंतु सूक्ष्म पर्दा हमारे यहां बना रहा है, उसका यह पहलू विचारणीय है कि तथाकथित ‘मार्मिक’

और ‘घटनाप्रधान’ का भेदभाव कृतियों के मूल्यांकन में बाधक बना है। ‘आकाशदीप’ और ‘बड़े घर की बेटी’ के इर्दगिर्द कथा-सरणियों की जिस भिन्नता पर हिंदी कथा समीक्षा अटकी रही है, उसका ही एक दुर्भाग्यपूर्ण आयाम कालांतर में ‘प्रयोगशील’ तथा ‘प्रगतिशील’ के उस विवाद में झलका जिसके चलते अनेक कृतियों-कृतिकारों को अनावश्यक खींचतान का शिकार होना पड़ा।

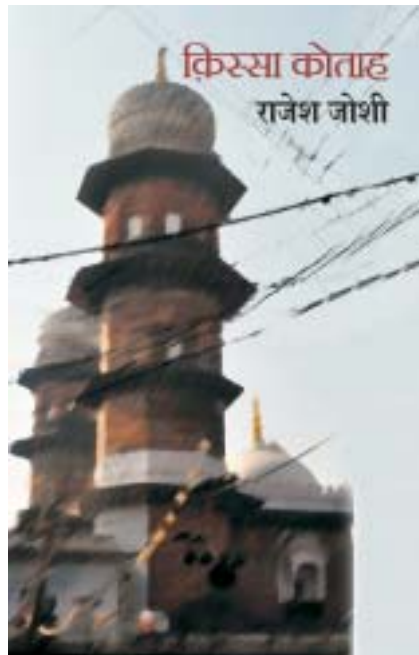
शायद ऐसे कृत्रिम विभाजनों या मताग्रहों से टकराने के खयाल से ही लेखक राजेश जोशी ने इस किताब को बताया तो है—‘एक गप्पी का रोजनामचा’ लेकिन भरतवाक्य में जोड़ना जरूरी समझा कि ‘यह उपन्यास नहीं है, आत्मकथा नहीं है, शहरगाथा नहीं है और कोरी गप्प भी नहीं है...वह इन्हीं तमाम चीजों की गपड़ताल से बनी एक किताब है...यह मुक्त-सा गल्प एक कवि की बहक भी लग सकता है...तमाम लेखकों की तरह उपन्यास लिखने की ललक मुझमें हमेशा रही। शायद यह उसी ललक की क्षतिपूर्ति से पैदा हुआ

कुछ है...यह भी कहा जा सकता है कि कुछ तो भी है।”

वास्तव में, जिसे लेखक ने ‘कुछ तो भी है’ बताया, यह समग्र जीवनानुभव का, एक समूचे महाभारतीय वृतांत का कोलाज, झलक, कैलेडेस्कोप या मनभाया चयन है। उसे नरसिंहगढ़, भोपाल, बंबई आदि स्थलों...परिवार के सदस्यों, मित्रों-बंधुओं, अजनबियों-सिरफिरों, संस्थाओं-आंदोलनों, सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों, घटनाचक्रों, लगावों-बिलगावों आदि का—और बताने में ‘कोताही’ बरतें तो व्यक्तियों-समुदायों-समाजों के व्यापक वृत्तों का—कुशल संक्षेपण भी कहा जा सकता है।

इसमें जितना शामिल किया गया, उससे कहीं अधिक वह छोड़ भी दिया गया, जिसका संधान करने के इरादे से कोई भी पाठक इस किताब की तरफ बार-बार उसी तरह जाना चाह सकता है, जिस तरह लोग किन्हीं कविताओं की ओर वापस लौटते हैं। इस लिहाज से ‘किस्सा कोताह’ पाठकों के लिए सिरहाने रखी या सामने मौजूद उस किताब जैसी होगी जिसे वे कभी भी, कहीं से भी खोलकर एकाधिक बार बिना ऊबे पढ़ सकें। तनिक और सावधानी से लिखी तथा छपी जाने पर कदाचित्त यह पोथी वैसा अत्याधुनिक ‘एंटीफिक्शन’ बन सकती थी जिसे ताश की गड्डी जैसा फेंटकर हर बार एक नया पाठ हासिल करने का प्रचलन पश्चिमी देशों में हुआ है। लेकिन पाश्चात्य ‘किस्सागोई’ में इस किताब के सूत्रों को तलाशना अधिक संतोषदायक होगा।

ठीक इसी तरह, ‘गप्पी’ की शकल में अपने आपको रूपांतरित करने की प्रविधि को भी उत्तरआधुनिकता जैसे किसी दबाव से प्रेरित समझना जरूरी नहीं। स्वांग भरने वाले, बहुरूपिये और भांड पारंपरिक समाजों में चिर-परिचित रहे हैं। कथाकृतियों में प्रयुक्त प्रथम पुरुष या ‘मैं’ यदि अनेक बार अन्य पुरुष या ‘वह’ को निदर्शित करता रहा है तो



यह भी संभव रहा कि उसके विलोम यानी 'अन्य पुरुष'—वह—को प्रथम पुरुष—'मैं'—की भांति पहचान लिया जाए।

रही बात कछुए की गति से उपन्यास लिखने की जगह खरगोश की चाल से किस्से सुनाने की...तो जरूरी नहीं था कि यह खरगोश आगे की ओर ही चौकड़ी भरता—“न किस्सों में कोई सिलसिला है, न तारीखों में। सब कुछ आगे-पीछे, दाएं-बाएं है।” अस्तु, लेखक के वास्ते यदि यह 'भेदकों को तौलने जैसा काम था' तो समीक्षक के वास्ते यह 'एक कदम आगे से लेकर दो कदम पीछे' तक ले जाने वाला दिलचस्प अभियान रहा, जिसे वह इस निरीक्षण द्वारा एकाग्र करना या समेटना चाहेगा—हाल में प्रदर्शित एक फिल्म की नायिक पूछती है कि 'उसे मर्द ही क्यों मिलते हैं, शायर क्यों नहीं मिलते?' इस संवाद का खुलासा निर्देशक ने तो यह किया कि दुनिया में भोग और स्वार्थ ही प्रमुख है, रूमान और कल्पनाशीलता की कमी है...जबकि राजेश

जोशी इसकी व्याख्या शायद यों करना चाहते कि 'इतिवृत्त' की अधिकता में 'गप्प' का और 'दुनियादारों' की बहुतायत में 'गप्पियों' का जो टोटा पड़ता गया है, उसकी 'क्षतिपूर्ति की ललक', 'किस्सा कोताह' जैसी रचना में ठीक उसी तरह नजर आएगी, जिस तरह अपना एक 'मकान' होने की फिक्र में मुब्लिला बेशुमार लोगों के बरक्स एक शायर के अपने 'मकान' की वह ललक—  
'मंजर इक बुलंदी पर...और हम बना सकते... अर्श के उधर होता...काश के मकां अपना।'  
(गालिब)

ऐसी आकांक्षाओं पर विचार करें तो 'किस्सा कोताह' का यह ठाठ सर्वथा संगत प्रतीत होगा जो इसका परिचय देने वाले शशांक ने बांधा है—“यह भटकन है। प्यास। बेगमकाल से इमर्जेंसीकाल तक का, इतिहास में लुप्त हो गए लोगों के विविध व्यवहारों का अलबम है...सुविख्यात कवि राजेश जोशी का यह अनूठा गद्य अपनी निज लय के साथ उस

उपवन में प्रवेश करता है जिसे हम उपन्यास कहते हैं। यहां हम अपनी स्मृतियों, अपने लोगों, सड़कों, भवनों और संबंधों को रोपने के लिए उर्वर भूमि पाते हैं।”

आशा करनी चाहिए कि अपने आपको अपने से अलग रखकर भी अपनेपन को भलीभांति दर्शाने में समर्थ इस लेखक की यह 'पठनीय' रचना विधाओं की जकड़बंदी को अंगूठा दिखाने और उत्तम कथा-लेखन के मानक सुझाने के अलावा शमशेर, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, कुंवर नारायण, श्रीकांत वर्मा जैसों के गद्य के प्रति पाठकीय ललक बढ़ाने में भी समर्थ हो सकेगी।

किस्सा कोताह/राजेश जोशी/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 250

166, वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली-110035  
मो. 9811225605

## महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से प्रकाशित पत्रिकाओं के नए अंक



जनवरी-मार्च 2013, मूल्य : ₹ 100



अप्रैल-जून 2013 37, मूल्य : ₹ 50



मार्च-अप्रैल 2013, मूल्य : ₹ 20

पत्रिकाओं की सदस्यता के लिए संपर्क करें :



प्रकाशन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,

पो. हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र), फोन : 07152-232943

# वाचिक परंपरा का संरक्षण

स्वयंप्रकाश

‘दा

स्तानगोई’ उर्दू कथा की वाचिक परंपरा के संरक्षण-संवर्धन की कोशिश करने वाली किताब है। दास्तान

कथा नहीं...वह किस्सा भी नहीं। किस्से के भीतर दास्तानें नहीं हो सकतीं जबकि दास्तान के भीतर अनेक किस्से हो सकते हैं। दास्तान सुनाने की चीज है और उर्दू में इसकी बहुत समृद्ध परंपरा है। उर्दू की सबसे प्रसिद्ध दास्तान है दस्ताने अमीर हमजा जिसकी छियालीस जिल्दें सन् 1883 से लेकर 1909 के बीच नवलकिशोर प्रेस ने छापी थीं। कथा-कहानी सुनाने की परंपरा किसी-न-किसी रूप में हर मुल्क में रही है और कथाकार से भी अधिक ‘कथावाचक’ या ‘बातपोश’ लोक में समादृत रहे हैं। ये न केवल परंपरा प्राप्त कथा को रोचक तरीके से सुनाने थे बल्कि यथावसर उसमें समयानुकूल परिवर्तन-परिवर्धन करके कथा को पुनर्नवा भी करते रहते थे। इस लिहाज से देखा जाए तो दास्तानगोई ‘कथाकथन’ नहीं, ‘प्रस्तुतीकरण’ है जिसमें कथा के साथ आंगिक-वाचिक अभिनय भी मिला हुआ है।

इस बार इसे हिंदी पाठकों के लिए लाए हैं संपादक द्वय महमूद फारुकी और मोहम्मद काजिम, महमूद फारुकी ने केंब्रिज यूनिवर्सिटी से पी-एच.डी. की और कुछ दिन एनडीटीवी में काम करने के बाद अंततः दास्तानें सुनाने लगे और इस फन में इतने मकबूल और मशहूर हो गए कि भारत में ही नहीं विदेशों में भी दास्तानगोई के शो कर चुके हैं और कई नए लोगों को भी अपने साथ लगा चुके हैं।

अमीर हमजा का सबसे दिलचस्प और मशहूर किस्सा ‘तिलस्मि होशरूबा’ है जो आठ जिल्दों में फैला हुआ है। यों तो यह कहानी राजा-रानियों की है लेकिन उसकी जान है जादू-तिलिस्म-अय्यारी और चमत्कार। इनका एक सिलसिला-सा चलता है जो अपनी विशिष्ट

भाषा-शैली में श्रोताओं को आकर्षित करता चला जाता है। इस किताब में अच्छी बात यह हुई है कि भाषा के तत्सम रूप को बदलने या सरल-सुगम-सुबोध बनाने की कोशिश नहीं की गई है और वह अपने मौलिक स्वरूप में हम तक आती है। जाहिर है कोई कितना ही अच्छा सुनने वाला हो...कथ्य पूरी तरह संप्रेषित नहीं होगा। शब्दों का पूरा अर्थ किसी को समझ में नहीं आएगा क्योंकि इसकी भाषा में उर्दू से भी अधिक अरबी और फारसी है तथा इसके सामासिक प्रयोग हैं। यहीं अभिनय आयर वाचा अपनी भूमिका निभाएंगे और उनकी सहायता से भाषा न सही, भाव पूरी तरह संप्रेषित हो जाएगा।

लेकिन सुनने की बात और है, पढ़ने की बात और है। पढ़ने में यह सुविधा है कि आप एक-एक शब्द पर गौर करते हुए उसे एक से अधिक बार भी पढ़ सकते हैं। लेकिन इसमें असुविधा यह है कि अब शब्द मात्र एक छापा है, उसके कारगर संप्रेषण के लिए वाचक के स्वराघात या बलाघात का सहारा नहीं है। मसला थोड़ा और



पेचीदा हो जाता है जब अरबी-फारसी बोझिल उर्दू को देवनागरी लिपि में लिखा जाता है। लेकिन बहरहाल यह दिक्कत भी शुरू के बीस-पच्चीस पृष्ठों तक ही रहती है...उसके बाद पाठक शब्दों की रवानी और कहानी को समझने लगता है। वैसे भी उर्दू नहीं समझने वाले पाठकों के लिए पुस्तक के अंत में 58 पृष्ठ लंबी शब्दार्थ सूची दी हुई है।

पुस्तक में सूचना है कि संपादक द्वय ने दास्तानगोई की परंपरा को न सिर्फ संरक्षित करने की कोशिश की है बल्कि इस परंपरा को आगे बढ़ाने का भी प्रयास किया है और इस सिलसिले में पार्टीशन और विनायक सेन पर दास्तानें लिखी और प्रस्तुत की हैं। पार्टीशन तो इस पुस्तक में भी है। यहां दास्तान का रूप थोड़ा बदला हुआ है। न भाषा उतनी क्लिष्ट, सामासिक और अरबी-फारसी मिश्रित है न रूपबंध, मसलन यहां कोई साकीनामा नहीं है जो पारंपरिक दास्तान के आरंभ में होता है। यहां दास्तान का स्वरूप ‘कथा कोलाज’ और ‘कहानी का रंगमंच’ को मिलाकर बनता है। जानने की इच्छा होती है कि इसमें प्रकाश व्यवस्था और ध्वनि प्रभाव की भी कोई भूमिका होती है/हो सकती है या नहीं।

दोनों तरह की भाषाओं का एक-एक नमूना देख लेना यहां उपयोगी होगा—

“हासिले मर्म जाए मसाफ पर पहुंचकर ठहरी थी के उस तरफ से हैरत बसद किब्रो नखुव्वत फौज-ऐ-साहिरान लिए मैदान में आई, पैर जमने लगे, बिजलियां गिरीं, जंगल के दरख्त जले, बादल सहर के बरसे, गर्दोगुबार साफ हुआ, तैयार दशत-ऐ-मसाफ हुआ। उस वक्त अशदाहे एक तरफ से पैदा हुए के बाहम कुफ्चे लड़ते और कुलाहाये आतिशीं छोड़ते आते। असर-ऐ-जहर से उनके धुप तक सब्ज नजर आती थी बाहम लिपटे फुंकारे मारते थे।” (पृ. 97, फिरंगी यार की दास्तान अज्लम जादू और बर्क)

और दूसरी तरफ 'दास्तान तकसीमे हिंद की' की यह भाषा-शैली देखिए—

“तो हाजरीन एका और अजनबियत का अहसास हकीकत भी है और तसव्वुर भी है। इकट्ठा होकर भी अलग रहा जा सकता है और अलग होने पर भी साथ-साथ। और इसी एक और अजनबियत के बीच की महीन दरार है— बंटवारा मगर मुल्कों की तकसीम में लोगों की तकसीम मुजमिर है। यानि उनके मकान की, जायदाद की, जार की, मेल असबाब की, तहजीब की, तारिख की, अदब की, जबान की, रूह की, जान की और उनके जमीनो-आसमान की तकसीम।” (पृ. 179, दास्तान तकसीमे हिंद की)

पुस्तक के आरंभ में शम्सुरहमान फारुकी ने छह पृष्ठ का परिचय, महमूद फारुकी ने छह पृष्ठ का प्राक्कथन और मोहम्मद काजिम ने आठ पृष्ठ की भूमिका लिखी है जिसमें दास्तान और दास्तानगोई के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इसके अलावा तिलिस्माती चीजों की सूची, अफरासियाब का बयान और दास्तां में आने वाले अहम किरदारों का परिचय भी है।

महमूद फारुकी ने अपने प्राक्कथन में कुछ बातें काबिले गौर कही हैं। कहते हैं—

मेरी तमन्ना है के उर्दू या उर्दूआमेज जबान में रामचरितमानस लोगों को सुनाऊं, हिंदी-उर्दू कि तारीख सुनाऊं, सियासत कि, रियाजत कि, सयाहत कि, फसाहत कि, रहमत कि, खल्वत कि, संतों कि बनियान, बेकेट के खुदकलामी मकल्मे, ताकत कि मुन्हजोरियों कि ऐसी चीजें सुनाऊं के दिलों के खराबे हों रोशन। अल्लाह तौफीफ दे, बंदा बशर है, आसी है।”

हमें इस पर क्या कहना चाहिए? आमीन!! वही हम कहते हैं।

लेकिन कुछ बातों से इतिफाक नामुमकिन है। मसलन मोहम्मद काजिम का यह कथन— “दास्तान की शुरुआत साकी नामे यानि शराब पिलाने वाले की तारीफ से होती रही है। इसलिए दास्तान गो से गुजारिश है के वो इस रवायत को कायम रखते हुए दास्तान सुनाने से पहले साकीनामा जरूर सुनाएं।” (पृ. 28)

दास्तानगोई/महमूद फारुकी, मोहम्मद काजिम/राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 395

33/3, ग्रीन सिटी, इ-8, अरेरा कालोनी, भोपाल-462039, मो. 09425018290

आत्मकथा

# आत्मविकास की ऊंची उड़ान

## नीरू

सा

हित्य की 'आत्मकथा' विधा में 'कथा' के केंद्र में रचनाकार के 'आत्म' की अवस्थिति अनिवार्य है। भिन्न-भिन्न रचनाकारों के संदर्भ में इस 'आत्म' का स्वरूप और इसकी परिधि बदलती रहती है। कोई रचनाकार 'आत्म' के चित्रण के नाम पर अपने भीतर के अबूझ रहस्यों की पहेली को ही सुलझाता रहता है तो कोई दूसरा रचनाकार धर्म-राजनीति-अर्थनीति आदि की प्रबल चुनौतियों से जूझता है। किसी रचनाकार के 'आत्म' का घेरा मात्र उसके घर-परिवार और नाते-रिश्तेदारों तक ही सीमित रहता है, कोई उससे कुछ आगे बढ़ पूरे गांव को अपने 'आत्म' की परिधि में ले आता है, किसी के लिए पूरा देश ही अपना हो जाता है और कोई-कोई पुण्यात्मा अखिल धरा-धाम को ही अपना बना लेता है। अब 'आत्मकथा' यदि 'आत्म-प्रस्फुटन' और 'आत्मविवेचन' है तो स्वाभाविक है कि 'आत्म' के स्वरूप की इस विविधता के अनुरूप ही आत्मप्रस्फुटन और आत्मविवेचन में भी अंतर होगा ही। ऐसी स्थिति में क्या वह उपयोगी नहीं रहेगा कि किसी आत्मकथा की समीक्षा करने से पूर्व यह तय कर लिया जाए कि उसके रचनाकार के 'आत्म' का स्वरूप क्या है, उसकी सीमा रेखा क्या है?

'माटी पंख और आकाश' भारतीय विदेश-सेवा के उच्च अधिकारी श्री ज्ञानेश्वर मुठे की आत्मकथा है—एक ऐसी कथा जो महाराष्ट्र के छोटे-से गांव 'अब्दुल लाट' से शुरू होती है और कदम-कदम आगे बढ़ती मॉस्को-तोक्यो जैसी विदेशी भूमि तक विस्तार पाती है। तो क्या सचमुच इस आत्मकथा के रचनाकार का 'आत्म' इतना व्यापक है? विदेशी भूमि को भी अपना बना लेने वाला?

पूरी रचना का गहन अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि उसके 'आत्म' का यह विस्तार आरोपित नहीं है। भारतीय विदेश-सेवा के एक सुशिक्षित अधिकारी के रूप में विदेशों में अपने लंबे प्रवास के कारण लेखक का उन देशों की सभ्यता-संस्कृति से जुड़ जाना सहज-स्वाभाविक है, यह उसके कार्यक्षेत्र की अनिवार्य मांग है। अपने कार्य के प्रति पूर्ण निष्ठा से समर्पित कोई अधिकारी यदि इस जुड़ाव को और भी गहराई से महसूस करे तो इसमें आश्चर्य कैसा? लेखक भारत देश के प्रतिनिधि के रूप में विदेशों में कार्यरत है, उसे भारतीय संस्कृति को विदेशियों तक पहुंचाना है, दोनों के बीच एक सेतु बनना है। क्या दूसरों से जुड़े बिना हम उन्हें अपना बना सकते हैं? अपनी संस्कृति के श्रेष्ठ अंशों को उन तक संप्रेषित कर सकते हैं? अतः यह लेखक के कार्यक्षेत्र की अनिवार्य मांग है कि





वह विदेशी भूमि से जुड़े। हां, यह जुड़ाव आरोपित भी हो सकता था, एक दिखावा मात्र। मगर हमारे कथानायक के संदर्भ में यह जुड़ाव दिखावा या पाखंड नहीं है, हर्गिज नहीं है। सचमुच उसके 'आत्म' का विस्तार वहां तक हो चुका है। कैसे और क्यों? इन प्रश्नों का उत्तर भी इस आत्मकथा में ही विद्यमान है, और वह उत्तर है—उसका और उसके परिवार का महाराष्ट्र की वारकरी परंपरा से जुड़ा होना। संत एकनाथ, संत ज्ञानेश्वर, संत तुकाराम आदि संतों की यह वारकरी परंपरा ईश्वर की सर्वव्यापकता, मानव-मात्र की समता और भाईचारे का संदेश देती है, भोग-विलास के स्थान पर संतोष और त्याग का समर्थन करती है, अपने-पराए के भेदभाव से परे संपूर्ण चराचर को अपना बनाने के लिए प्रेरित करती है। संत ज्ञानेश्वर की 'विश्वचि माझे घर' की उद्घोषणा संकीर्णताओं से मुक्त होने का आह्वान करती है। स्वाभाविक है कि ऐसी महान परंपरा में रचे-बसे लेखक के लिए माँस्को और तोक्यो भी पराए नहीं रहते, उसके 'आत्म' का ही एक हिस्सा बन जाते हैं। प्रस्तुत आत्मकथा का 'आकाश' शीर्षक तीसरा हिस्सा इसीलिए आत्मकथा का अभिन्न अंग माना जाना चाहिए। वह जापानी सभ्यता-संस्कृति का इतिहास न होकर हमारे कथानायक का इतिहास है, उसके 'आत्म' के विकास का इतिहास है, उसकी उपलब्धियों का इतिहास है, उसकी आत्मभोगी स्थितियों का इतिहास है, जापानी जन-जीवन से उसके एकात्म स्थापित करने के प्रयासों और सफलताओं का इतिहास है, जापानी लोगों के आचार-व्यवहार के आलोक में भारतीयों के आचार-व्यवहार की श्वेत-श्याम सच्चाइयों को जांचने-परखने का इतिहास है। इस खंड में विद्यमान स्थितियों और घटनाओं का कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा या आख्याता लेखक स्वयं है।

प्रस्तुत आत्मकथा में रचनाकार के जिस 'आत्म' की अभिव्यक्ति हुई है, वह अपनी परिधि में ही नहीं, अपने स्वरूप में भी विशिष्ट है। इस विशिष्टता के कारण ही यह आत्मकथा दलित आत्मकथाओं के क्षेत्र में एक नवीन जीवन-दृष्टि तथा सृजनधर्मिता की परिचायक बन जाती है। दलित आत्मकथाओं का बहुलांश शोषण व उत्पीड़न के मर्मांतक वर्णनों से भीगा रहता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह शोषण-उत्पीड़न दलित-जीवन का एक ऐसा

कड़वा सच है जिसका कसैला स्वाद जीवन-भर उनकी जीभ पर तिलमिलाता रहता है मगर एक रचनाकार के रूप में कोई दलित जब लेखनी उठाता है तो निश्चय ही पाठक-समाज उससे यह भी जानना चाहता है कि वंचना और अवमानना के अनगिन अनुभवों ने क्या उसे वह जीवन-दृष्टि दी जिससे परिचालित हो वह मौजूदा विभेदकारी व्यवस्था को बदलने के लिए सन्नद्ध हो सका हो, क्या इन अनुभवों ने उसे वह चेतना प्रदान की जिससे प्रेरित हो वह अपनी आत्मकथा में 'आत्म-प्रकाशन' और 'आत्म-प्रख्यापन' से आगे बढ़कर 'आत्म-निरीक्षण' व 'आत्म-विवेचन' भी कर पाया हो। इस जीवन-दृष्टि और इस चेतना के बिना उसकी रची आत्मकथा पाठक को करुणार्द्र कर रुला तो सकती है, समाज के तथाकथित भद्र-वर्ग के प्रति उसके मन में आक्रोश भी जगा सकती है मगर समता और भाईचारे के ज्योतिष्य रचने के लिए प्रेरित नहीं कर सकती। शोषणकर्ताओं के प्रति उत्कट घृणा का विषयमन करती ऐसी रचनाएं पाठक समाज में भी घृणा का ही बीज बोती हैं। हर्ष और संतोष का विषय है कि 'माटी पंख और आकाश' इसका अपवाद है। इस आत्मकथा में अभिव्यक्त 'आत्म' वंचित और अवमानित ही नहीं, चैतन्यस्वरूप भी है। इसीलिए इस आत्मकथा में वंचना और अवमानना के अनुभवों के समानान्तर एक तेजोमयी चेतना के प्रस्फुटित होने तथा शनैः-शनैः प्रखर होते चले जाने की प्रेरक आत्माभिव्यक्ति भी है। अपने इसी रूप के कारण यह रचना आत्मकथाओं की उस गौरवशाली परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी सिद्ध होती है जहां आत्मकथाएं अपने कथा-नायक के तपःपूत यशस्वी आचरण के कारण, विषयानुसार अमृत-दान करने के शिवसंकल्प के कारण समाज के लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत सिद्ध होती रही हैं।

यह आत्मकथा तीन खंडों या अध्यायों में विभाजित है—1. माटी, 2. पंख, 3. आकाश। इसका कथानायक अपनी 'माटी' से गहराई से जुड़ा एक ऐसा प्रतिभाशाली, परिश्रमी, मेधावी और संवेदनशील व्यक्ति है जो बहुजन समाज में जन्म लेकर भी शिक्षा के 'पंखों' के बल पर उन्नति के असीम 'आकाश' में विचरण करने में सफल होता है मगर आकाश में विचरण करते हुए भी वह अपनी भावनाओं और स्मृतियों

के माध्यम से सदा अपनी माटी से जुड़ा रहता है। आखिर यह 'माटी' ही तो है जिससे उसके 'आत्म' का मूल रूप गढ़ा गया है। और यह 'आकाश' ही तो है जिसके आकर्षण में बंधा वह अपने 'आत्म के विकास' के लिए हर पल गतिमान रहता है। वस्तुतः इस आत्मकथा का सबसे सुंदर सूत्र यही है—अपनी धरती से लगाव रखते हुए भी असीम आकाश के आकर्षण में बंधे रहना और चलते रहना, चलते रहना। चरैवेति, चरैवेति। न अपनी माटी से लगाव छूटे, और न ही अछोर आकाश का आकर्षण कम हो। व्यक्ति की गतिशीलता यदि इन दो ध्रुवों के मध्य संतुलन साध सके तो इसमें उसका ही नहीं, समूचे मानव-समाज का योग-क्षेम निहित है।

आत्मकथा में व्यष्टि-समष्टि संबंधों की व्याख्याएं 'आत्म के विकास' के प्रदर्शनार्थ ही होती हैं। प्रस्तुत आत्मकथा में ये संबंध वैविध्यपूर्ण हैं और उनकी व्याख्याएं भी अनेकरूपा हैं। इन संबंधों में सबसे महत्वपूर्ण और सबसे जीवंत संबंध है, लेखक और उसके गांव का आपसी संबंध। दरअसल गांव लेखक के मन-प्राणों में इतनी गहराई से रचा-बसा है कि उसे लेखक से अलग किया ही नहीं जा सकता। इस गांव की इतनी छवियां, और इतनी स्मृतियां आत्मकथा में बिखरी हैं कि पाठक भी गांव के प्रेम में डूब ही जाता है। गांव के विरह में तड़पते लेखक के साथ ही पाठक के मन-प्राणों से भी मधुर पीड़ा की एक पुकार उठती है। पुकार, जो गांव के लिए है, भारत के एक गांव के लिए। मगर जो गांव प्रेमचंद के गांवों की तरह केवल शोषण-उत्पीड़न की भूमि ही नहीं है। यह तो एक मासूम बच्चे की नजरों से देखा गया गांव है—सुंदर-सलोना, सीधा-सादा, प्रकृति की सुरम्य गोद में बसा गांव। खेत-खलिहानों, परती जमीनों, पानी से लबालब भरे तालाब व कुओं वाला गांव, आम-टमाटर व ककड़ियों वाला गांव, खेतों के बीचोंबीच लगे कच्ची मूंगफली के ढेरों पर चांदनी रात में सोता गांव, सूअर-सूअरनियों वाला गांव, इमली के खट्टे-मीठे गोलों को चूसते, कुओं में तैरना सीखते, इस्टाप, कबड्डी, लंगड़ी, गुल्ली-डंडा व कंचे खेलते बच्चों का गांव। धमाधम पीटने वाले अध्यापकों का गांव तो मठपती जी जैसे गुणग्राहक अध्यापकों का गांव। बच्चों पर

प्यार लुटाने वाले मुंगले गुरुजी वा धुमाले गुरुजी का गांव। दरअसल गांव की यह पहली अनुभूति, जो लेखक ने अपने मासूम बचपन में महसूसी थी, सदा के लिए उसके मन पर अंकित हो जाती है। अपने भोलेपन और मासूमियत में उस नन्हे बालक को गांव बहुत प्यारा लगा था, वह उसके प्यार में डूब जाता है। मगर जैसे-जैसे उसकी उम्र बढ़ती है, शिक्षा के उजाले में उसकी चेतना जाग्रत होती है, वैसे-वैसे इस गांव के धूसर रंगों से भी उसका साक्षात्कार होने लगता है। पाठक देख सकता है कि लेखक के 'आत्म के विकास' के साथ-साथ गांव से उसका रिश्ता भी बदलता जाता है, गांव संबंधी उसकी धारणाएं भी बदलती जाती हैं। जातिवाद के अनेक स्तरों से वह परिचित होने लगता है। पिरामिडनुमा जाति-व्यवस्था! ऊंच-नीच, छुआछूत के कितने ही सोपान! शिंपियों (दर्जी समाज) के घर जन्म लेने के कारण लेखक यदि जैनियों के लिए कुछ बातों में अछूत है तो उसके अपने घर में भी 'महार-मांगों' के लिए कुछ पाबंदियां हैं। विस्मयकारी है उसके लिए इस सत्य का अभिज्ञान कि अपने प्रवचनों में एकनाथ महाराज के समतामूलक उपदेशों का प्रचार करने वाले उसके तात्या (पिताजी) के अपने घर में छुआछूत प्रचलित है। और भी हैरान होता है वह यह जानकर कि इस छुआछूत के नियम भी समाज ने अपनी 'सहूलियत' के हिसाब से बनाए हैं। अछूत माने जाने वाले लोगों से समाज अपनी सुविधा के लिए कुछ काम करवा लेता है। तब अस्पृश्यता का यह दंश उसे क्यों नहीं सताता? जातिवाद की आड़ में छिपे शोषण के राक्षस को लेखक पहचान जाता है। इस कटु सत्य का उद्घाटन उसकी सोच, उसकी जीवन-दृष्टि का पुनर्गठन करता है और वह लिखता है, 'शोषण के आकार इतने स्पष्ट और आकृतिबद्ध होते हैं, यह सोचकर मुझे एक साथ आश्चर्य और विषाद महसूस होने लगा।' (पृ. 118) 'आत्मविकास' की राह पर चल पड़ा लेखक भास्कर दादा की प्रेरणा से एक संकल्प करता है, 'बड़ा होकर मैं जरूर सबको बुलाऊंगा और उनके साथ बैठकर खाना खाऊंगा।' (पृ. 59) जीवन की पाठशाला से सबक लेकर तथा स्कूल-कॉलेज की शिक्षा से दृष्टि पाकर लेखक अपना और अपने

समाज का विश्लेषण करने में प्रवृत्त होता है। तालाब पर पानी के लिए महार-मांग या चमारों का घंटों प्रतीक्षा करना, दरिद्रता के कारण या स्कूल न होने के कारण गांव के अनेक बच्चों का शिक्षा से वंचित रह जाना, स्त्री-पुरुष-संबंधों में परस्पर साम्य और संगति का अभाव उसे परेशान करने लगता है। अपने ही घर में परित्यक्ता चचेरी बहन शशिकला का नगण्य और उपेक्षित जीवन लेखक को व्यथित कर जाता है। हमारे समाज में स्त्रियों की यह दुर्दशा क्यों है? सारी गृहस्थी का बोझ वे उठाती हैं मगर फिर भी वे अस्तित्वहीन हैं, ऐसा क्यों? काकू (मां), अक्का (चाची), गांव की अन्य स्त्रियां—सबकी लगभग एक-सी ही दशा। लेखक गहन चिंतन-मनन करता है और उनकी इस दशा का एक कारण उनकी अशिक्षा को तथा दूसरा कारण हमारे समाज की स्त्री-विरोधी मानसिकता को मानता है। कालांतर में वह लिखता है, 'काकू के जीवन की शोकांतिका उस पीढ़ी की सभी निरक्षर स्त्रियों की शोकांतिका है, इसमें दो राय नहीं। अपने जीवन का विश्लेषण कर कुछ नया कर दिखाना, अपना उद्धार करना, जीवन में उपलब्ध सभी खुशियों का आस्वाद लेना और कुछ परिमाण में ही सही अपने भाग्य का फैसला अपने हाथ में लेने के लिए जिस मूल मानसिकता की जरूरत होती है, वह स्त्री को देने की दयानतदारी हमारे समाज में नहीं थी, इसमें भी कोई दो राय नहीं।' (पृ. 199) समाज की इस संकुचित और पितृक सोच के कारण ही पढ़ी-लिखी स्त्रियों का जीवन भी छटपटाहट से भरा रहता है। लेखक की सुशिक्षिता सहेलियां अपने विवाह के बाद लेखक को पत्र कहां लिख पाती हैं। लेखक टिप्पणी करता है, 'पत्नी का कोई अच्छा दोस्त हो सकता है और उसके खत बार-बार आने में कोई बुराई नहीं है। यह बात अभी भारत के पतियों को रास नहीं आएगी। शादी के बाद मायके के ही नहीं, वरन् सभी नातों के त्याग की महिलाओं से अपेक्षा रखने वाली हमारी विवाह संस्था काफी निर्दयी है। बच्चे, पति, उसका पेशा या नौकरी इनके पार उड़ान भरते हुए आत्मविकास की दिशाएं खोजने वाली महिलाएं दिखाई नहीं देती। उनका स्वत्व शादी की वेदी पर बलि चढ़ जाता है। उसके बाद शुरू हो जाती है एक कठिन यात्रा,

कभी खत्म न होने वाली।' (पृ. 132-133) लेखक के 'आत्म' के विकास में 'शिक्षा' का सर्वाधिक योगदान रहा। इसीलिए आत्मकथा में उसने बार-बार यह उद्घोषणा की है कि शिक्षा जैसा मुक्ति का कोई दूसरा साधन नहीं। अशिक्षा यानि व्यर्थता। बहुजन समाज के एक अति साधारण परिवार में जन्म लेकर भी लेखक शिक्षा और अध्यवसाय के बल पर ही भारतीय प्रशासनिक सेवा हेतु चयनित होता है। शिक्षा-प्राप्ति की उसकी यह राह आसान नहीं थी, यह आसान हो भी नहीं सकती थी। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद जिस देश के प्रशासन ने विकास और सुविधाओं के अधिकांश पिटारे शहरों के लिए ही खोले हों और बड़ी निर्दयता के साथ गांवों को उजड़ने के लिए छोड़ दिया हो, वहां गांव के बच्चों के लिए अच्छी और ऊंची शिक्षा आसमान का चांद ही तो बनी रहेगी। यह तो भला हो महात्मा ज्योतिबा फुले, शाहू महाराज, भीमराव अंबेडकर जैसे सच्चे मानवसेवियों का जिनके अनथक प्रयासों से निर्धन और दलित वर्ग खुली हवा में सांस ले सका, शिक्षा की किरणों में नहा सका। लेखक की स्कूल-कॉलेज की शिक्षा इन्हीं हुतात्माओं के स्वप्न को साकार करने के लिए खुले शिक्षण-संस्थानों में हुई। इन संस्थाओं के राष्ट्रभक्त गुरुजनों ने, दृढ़प्रतिज्ञ प्राचार्य जी ने लेखक को किताबी ज्ञान देने के साथ-साथ जीवन की उदात्त दिशा की ओर उन्मुख भी किया। इन गुरुजनों ने अपने विद्यार्थियों (जो प्रायः दलित वर्ग से संबंध रखते थे) के मन में शेष समाज के प्रति घृणा का बीज नहीं बोया, वरन् उन्हें अपने देश के साथ जुड़ना सिखाया, देश के प्रति कर्तव्यनिष्ठ बनना सिखाया। हमारा कथानायक अपने 'आत्म के विकास' में इन गुरुजनों के योगदान को कैसे विस्मृत कर सकता था इसीलिए आत्मकथा में अनेकशः उसने उन दिव्यात्माओं के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित किए हैं। आखिर इन्हीं की दी हुई शिक्षा के कारण तो लेखक को अपना देश, अपनी माटी अपने भीतर आलोड़ित होती महसूस होती है। इसी जच्चे के कारण देश की समस्याएं उसे अपनी समस्याएं लगती हैं। भारतीय प्रशासनिक सेवा हेतु चयनित होने पर अपने साथी अधिकारियों के साथ प्रशिक्षण लेते समय या उनसे बातचीत

करते समय भी राष्ट्रभक्ति का यही जज्बा उसे सही दिशा-निर्देश देता है, इसी जज्बे के कारण उसे भारतीय प्रशासनिक सेवा की अनेक विसंगतियों का अहसास होता है। भारत की 70-80% आबादी गांवों में रहती है मगर आई.ए.एस. या आई.पी.एस. चुने गए अधिकारियों में से गांव से आए युवाओं का प्रतिशत क्या इतना ही होता है? इस क्षेत्र में ग्रामीण युवाओं की संख्या नगण्य क्यों है? शहरों से आए युवा अधिकारी गांव को और वहां की समस्याओं को समझते ही कितना हैं? दो-तीन सप्ताह के ग्रामीण प्रशिक्षण से क्या वे गांवों को गहराई से समझ लेंगे? क्या यह थोड़ा-सा प्रशिक्षण उनके भावी प्रशासकीय निर्णयों को सही दिशा देने के लिए काफी है? जिन लोगों की सेवा के लिए वे आई.ए.एस. बने, उन्हें तो वे जानते ही नहीं। और न ही उन्हें जानने में उनकी रुचि है। अपनी कुलीनता या उच्च वर्गीय प्रतिष्ठा में उन्मत्त कुछ युवा अधिकारी टाई बांधना न जानने वाले लेखक पर परोक्षतः व्यंग्य कसते हैं। (पृ. 37) गांव को न जानने के अपने अज्ञान पर ये युवा शर्मिंदा नहीं हैं। हां, यह जरूर चाहते हैं कि टाई बांधना न जानने के कारण लेखक अवश्य शर्मिंदा हो। ऐसी सोच, ऐसी गुलाम मानसिकता वाले अधिकारी भला देश का क्या हित कर सकेंगे? गांवों, कस्बों और शहरों में बहुजन समाज के बच्चों की शिक्षा के लिए अनथक प्रयास कर रहे अनेकानेक हुतात्मा गुरुजनों का श्रम कब सार्थक होगा? नौकरशाही द्वारा अंग्रेजी के माध्यम से बहुसंख्यक अशिक्षित समाज का शोषण कब तक जारी रहेगा? ये प्रश्न एक ओर यदि लेखक के 'आत्मविकास' और 'आत्मविश्लेषण' को व्यंजित करते हैं तो ऐसे ही प्रश्नों के माध्यम से यह आत्मकथा पाठक को भी झकझोरकर रख देती है।

वह आत्मकथा जीवन के उन सूत्रों को साग्रह स्थापित करती है जो प्रगति के सार्वदेशिक-सार्वकालिक सूत्र हैं। आत्मकथा के 'आकाश' शीर्षक तीसरे अध्याय में ये सूत्र यदि जापानवासियों के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं तो आत्मकथा के पहले और दूसरे अध्याय में स्वयं लेखक, उसके परिवारजनों, मित्रों-परिजनों, ग्रामवासियों, स्कूल-कॉलेज के गुरुजनों आदि के माध्यम

से। एक छोटे-से गांव के एक अति साधारण परिवार में जन्म लेकर भी लेखक का भारतीय विदेश सेवा में उच्च अधिकारी बनना कैसे संभव हुआ? परिश्रम, स्वाध्याय, लक्ष्य के प्रति एकाग्रता, शिक्षा-प्राप्ति की लगन, बुद्धि-चातुर्य, योजनाबद्धता, साहस, संवेदनशीलता आदि के बिना क्या यह ऊंची उड़ान संभव थी? आपसी प्रेम, सहयोग, त्याग और समर्पण की सुदृढ़ डोर से बंधे परिवार का संबल यदि उसे न मिलता तो क्या उसका रास्ता और भी कंटकाकीर्ण नहीं होता? वारकरी परंपरा के संस्कार यदि उसे न मिलते तो भोगवादी जीवनचर्या के प्रलोभन क्या उसकी सात्त्विक प्रवृत्ति को निगल न जाते? बहुजन समाज के निर्धन-अशिक्षित बच्चों को शिक्षा, विकास और स्वावलंबन के उजाले में लाने के लिए कृतसंकल्प गुरुजनों का सहयोग और मार्गदर्शन यदि लेखक को न मिलता तो क्या उसका यह कार्याकल्प संभव होता? सच यही है कि लेखक की यह गगनचुंबी गारुड़ी उड़ान पाठक के मन में वैयक्तिक प्रयासों की महत्त्व-प्रतिष्ठा तो करती ही है, परिवार नामक संस्था के प्रति उसकी निष्ठा को भी जगाती है, यह समाज-निर्माण में सच्चे गुरुजनों के योगदान को रेखांकित करती है और साम्य और संगति के संवादी स्वरो में खिलने-खुलने के लिए समाज का आह्वान भी करती है।

आत्मकथा पढ़ने के बाद पाठक की कुछ जिज्ञासाएं अतृप्त ही रह जाती हैं। लेखक ने जिस विस्तार और गहन संपृक्ति के साथ अपने जन्म से लेकर भारतीय नागरिक सेवा के एक उच्च अधिकारी बनने तक की अपनी जीवन-यात्रा का प्रेरणास्पद वर्णन किया है, उसी विस्तार और गहन संपृक्ति के साथ वह आगे के जीवन को अभिव्यक्त नहीं कर पाया। पाठक जानना चाहता है कि भारतीय नागरिक सेवा के एक उच्च अधिकारी के रूप में उसने अपने देश और समाज की क्या सेवा की? क्या मात्र वैयक्तिक विकास के लिए उसने यह स्वप्न देखा था? पाठक यह भी जानना चाहता है कि आखिर उसने भारतीय प्रशासनिक सेवा की अपेक्षा भारतीय विदेश सेवा को वरीयता क्यों दी जबकि उसके अपने गांव, अपने समाज को उस जैसे राष्ट्रभक्त मानवसेवियों की ज्यादा जरूरत थी। एक विवाहित व्यक्ति की आत्मकथा में उसका

अपने दांपत्य जीवन के विषय में बिलकुल मौन रहना भी पाठक को अखरता है। शायद इसलिए भी कि अपनी मां और महिला-मित्रों के संदर्भों द्वारा लेखक ने जो अपनी स्त्रीवादी दृष्टि आत्मकथा में यत्र-तत्र प्रस्तुत की है, उसे उसके अपने दांपत्य जीवन के माध्यम से जांचने-परखने का अवसर पाठक को हासिल ही नहीं होता। यह मौन साभिप्राय है या कि आत्मकथा के अगले भाग में यह मौनभंग होगा, इस रहस्य का अनावरण तो लेखक ही कर सकता है।

मूलतः मराठी में लिखित आत्मकथा 'माटी पंख आणि आकाश' का यह हिंदी अनुवाद काफी हद तक संतोषजनक है। अनुवाद की भाषा में एक प्रवाह है, पाठक निरंतर उसके साथ बहता रहता है। रंकाला जैसे कुछेक शब्द शुरू-शुरू में अपरिचित लगते हैं मगर पूरा प्रसंग उनके अर्थ को स्पष्ट कर देता है। कहीं-कहीं वर्तनी, परसर्ग आदि की अशुद्धियां भी नजर में खटकती हैं, फिर भी कुल मिलाकर अनुवादक संध्या पेडणेकर का प्रयास सफल कहा जा सकता है। आत्मकथा पढ़ते समय एक बात जो बहुत अखरती है, वह है—पूफ की अशुद्धियां इससे संप्रेषणीयता बाधित होती है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि 'माटी पंख और आकाश' दलित आत्मकथाओं के क्षेत्र में एक नवीन रचना-दृष्टि के लिए स्मरणीय रहेगी। यह आत्मकथा वंचना और अवमानना के कटु अनुभवों की अश्रु-स्वेदमय अभिव्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, उससे भी परे इस सत्य की सिंहगर्जना करती है कि दलित हो या सवर्ण—संकल्पशक्ति का धनी कोई भी मनुष्य तमाम अवरोधों के घने अंधेरों को परे धकेलते हुए उपलब्धियों के ज्योति-पर्व रच सकता है। अपने कथानायक के माध्यम से यह आत्मकथा समूची मानवता को यह संदेश देती है कि अपने दीपक खुद बनो—'अप्प दीपो भव'।

माटी पंख और आकाश/ज्ञानेश्वर मुळे/संध्या पेडणेकर/राजकमल प्रकाशन, 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : 350

प्रोफेसर (हिंदी), यूनिवर्सिटी स्कूल ऑफ ओपन लर्निंग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़  
मो. 098154-32326

# लेखकीय गरिमा के विनम्र आत्मकथ्य

प्रमोद भार्गव

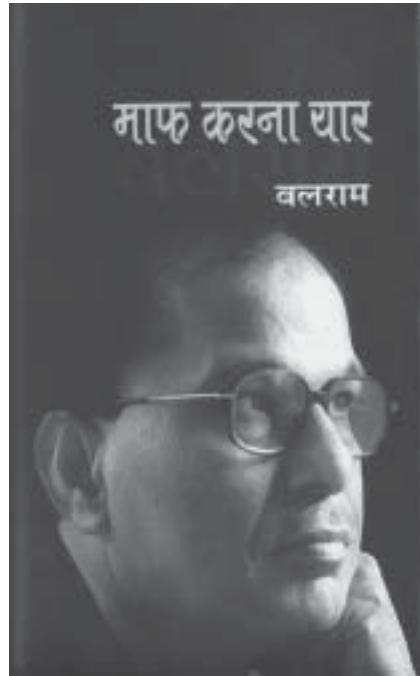
## आ

त्मकथा, आत्मकथ्य और संस्मरण भोगे और जिए अनुभवों के लेखकीय दस्तावेज होते हैं। इसलिए ये अक्सर लिखे नहीं जाते, बल्कि विभिन्न शाब्दिक आयाम लेते हुए अंकित हो जाते हैं। इसी विवशता के चलते अपनी पुस्तक 'माफ करना यार' की भूमिका में बलराम स्वीकार करते हैं—'बैठे तो थे आत्मकथा लिखने, लेकिन पता नहीं ये क्या लिख बैठे, शायद संस्मरण या फिर इन्हें आत्मकथात्मक संस्मरण कह लीहिए। इस पुस्तक में दर्ज आलेखों से एक समूची और सम्यक् आत्मकथा तो नहीं बनती, लेकिन आत्मकथात्मक संस्मरणों की आत्मीयता, हौसले के पैरों पर महत्वाकांक्षा की उड़ान, जैविक जज्बों की जटिलता और बहुत थोड़े में अपनों के छल-छद्म के ऐसे विनम्र बयान जरूर सामने आ जाते हैं, जो इस पुस्तक को एक ऐसी रोचक कहानी बना देते हैं, जिसे एक बार पढ़ना शुरू कर दिया जाए तो फिर शायद पढ़े बिना रहना जा सकें।

लेखक की विधा संबंधी दृष्टि भले ही साफ न हो, लेकिन उसके वैचारिक आधार का स्रोत साफ है। लेखक अपना दृष्टि मंत्र न मार्क्स से लेता है, न गांधी या लोहिया से, न ही उत्तरआधुनिक यथार्थवादी अवधारणा से। लेखक के ही शब्दों में देखें 'जीवन और कर्म में कृष्ण हमारे आदर्श रहे। आदर्शों को युगानुकूल बनाने का मंत्र भी कृष्ण से ही लिया और उन्हीं से पाई परिणाम की चिंता न करने की शिक्षा।' जानकर हैरानी होती है कि जब उनकी पीढ़ी के ज्यादातर लेखक मार्क्सवाद का जेबी संस्करण थैले में लिए चलते थे, तभी बलराम ने अनुभव कर लिया

था कि सिद्धांतों के आधार पर संप्रदाय तो स्थापित हो सकते हैं, लेकिन मूल्यों का निर्माण असंभव है। शायद इसीलिए लेखक को इस पुस्तक में बार-बार यह दोहराने में कोई संकोच नहीं होता कि 'हमने अपने अनुभवों से यह भी जाना कि एक सीमा के बाद क्या तो वामपंथ और क्या तो दक्षिणपंथ, दोनों ही मनुष्य को पार्टी रोबोट में बदल देते हैं, उसे सहज मनुष्य तक नहीं रहने देते।' शायद यही वजह रही कि बलराम किसी संगठन से जुड़े लेखकों के संस्मरण और उनकी कृतियों का मूल्यांकन नहीं करते, बल्कि जिनका आचरण उन्हें निर्विकार रूप से लुभाता है और जो रचनाएं उनके वैचारिक अवचेतन की भाव-भूमि पर खरी उतरती हैं, उन सबको इस पुस्तक में सम्मानजनक स्थान मिला है।

बलराम की इसी वैचारिक उदारता के



चलते इस पुस्तक में जैनंद्र, यशपाल, अज्ञेय, शमशेर, त्रिलोचन, केदारनाथ सिंह, नागार्जुन, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, ज्ञानरंजन, भीष्म साहनी, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, शानी, नामवर सिंह, परमानंद श्रीवास्तव, विभूति नारायण राय, पुरुषोत्तम अग्रवाल, रमेशचंद्र शाह, रवींद्र कालिया, कन्हैयालाल नंदन, चित्रा मुद्गल, मंगलेश डबराल, प्रभाकर श्रोत्रिय, उदयप्रकाश दामोदर खड़से, केशव, संजीव, शिवमूर्ति, राजकमल, सूर्यकांत नागर, महेश दर्पण, राजकुमार गौतम, धीरेंद्र अस्थाना, राजेंद्र राव और विनोद दास जैसे वैचारिक भिन्नता वाले सर्जक एक साथ मौजूद हैं। उदारवादी समता का ऐसा ही समुच्चय संपादक-पत्रकारों का है। हो भी क्यों नहीं, बलराम एक साथ कथाकार, पत्रकार और समीक्षक जो हैं। इसीलिए उनके इस त्रिआयामी रचनात्मक वैविध्य का फलक विस्तृत है। चार दशक के इस लंबे कालखंड में लेखकों की जाती हुई पीढ़ी है, स्थापित पीढ़ी है और आती हुई पीढ़ी भी है। बलराम का इन तीनों ही पीढ़ियों के सर्जकों से तादात्म्य अथवा विषमता, जो भी उल्लेखनीय है, बेबाकी, किंतु लेखकीय गरिमा के अनुरूप आत्मीय संस्मरणों के रूप में इस पुस्तक में दर्ज हो गई है।

बलराम जहां जैनंद्र की अंतर्मुखी निर्लिप्तता के कायल हैं, वहीं अज्ञेय का अभिजात सम्मोहन उनके लिए गुरुत्वाकर्षण है। बलराम कानपुर से दिल्ली अज्ञेय द्वारा लिए साक्षात्कार में खरे उतरने पर ही आए थे। उनके आदमकद रूप में बलराम को ग्रीक देवता की झलक दिखती है। यह शायद अज्ञेय और भारती जैसे निरापद लेखक-संपादकों का ही प्रभाव था कि बलराम कमोबेश वैचारिक तटस्थता बनाए रख सके।

वे लिखते भी हैं : 'साहित्य में पसरी धड़ेबंदी और विचारधारागत मार-काट ने उर्वर हिंदी प्रदेश की जमीन को बंजर कर देने में कितनी और कैसी भूमिका निभाई, इस पर कोई चर्चा नहीं हुई, लेकिन साहित्य परिदृश्य पर छा गए बेगानेपन और कुहासे से कहीं-न-कहीं इस मार-काट का भी बड़ा हाथ रहा है। इससे हमारी भाषा ही नहीं, भाव तक दरिद्र हो गए।' बलराम का यह दर्द स्पष्ट करता है कि साहित्य में भेद की कितनी पक्षपातपूर्ण दुरावस्थाएं हैं। बलराम के अनुसार 'दक्षिणपंथ अगर अज्ञेय से बेपनाह मोहब्बत करता है तो नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल को अपनी दहलीज पर पांव धरने तक से मना कर सकता है, लेकिन धीरे-धीरे प्रगति बनाम कला की शिविरबंदी शिथिल हो रही है, जिसका प्रमाण नामवरसिंह ने यह कहकर दिया कि कलात्मक रचाव और काव्य विन्यास के संदर्भ में मुक्तिबोध से आगे ठहरते हैं अज्ञेय।

आत्मकथा अथवा संस्मरण जीवित पात्रों के साथ भोगे हुए यथार्थ को लेकर आगे बढ़ते हैं। संस्मरणात्मक लेखन में बस इतना जरूरी होता है कि लेखक जिस व्यक्ति के चरित्र को पेश कर रहा है, उसके अपने व्यक्तित्व की कोई विशिष्ट पहचान हो, क्योंकि साधारण व्यक्ति के चरित्र के प्रति पाठक में कोई जिज्ञासा नहीं होती? ऐसे पात्र उपन्यास, कहानी या नाटक में तो हो सकते हैं, लेकिन आत्मकथा या आत्मकथात्मक संस्मरणों में नहीं? यही कारण है कि बलराम इस पुस्तक में जिन लेखक-पत्रकारों की चरित्रजन्य विलक्षणताओं को क्रमशः आगे बढ़ाते हैं, वे सब साहित्य और पत्रकारिता के चिर-परिचित नाम हैं, जिनमें बलराम के अनन्य, आत्मीय और अतुलनीय पात्र नागार्जुन हैं, किसी अभिभावक की तरह, लेकिन ऐसा अभिभावक, जिनका बलराम के समक्ष कुछ भी गोपनीय नहीं है। यदि कुछ है भी तो वे उसे उजागर कर देते हैं।

बाबा नागार्जुन के साथ घटित तिब्बत का एक प्रसंग इस पुस्तक में है, जिसके अनुसार 'भयानक सर्द रात में एक तिब्बती महिला बाबा के साथ आ लेती तो उनकी घिग्गी बंध गई। अगले दिन उस स्त्री से बाबा ने रात भर अपने साथ सोने का



मकसद पूछा तो उसने बेझिझक बता दिया, 'इतनी कड़ी सर्दी में तुम्हें ओढ़ाने लायक कंबल-रजाई हमारे पास नहीं हैं। अगर तुम्हारे साथ न सोती तो तुम सुबह तक ठिठुरकर मर जाते। सो, तुम्हें अपने शरीर की गर्मी देकर सही-सलामत बनाए रखने के लिए तुम्हारे साथ सोना पड़ा। सुनकर बाबा उसके औदार्य पर नतमस्तक हो गए।' यदि बलराम की जगह इस स्त्री-प्रसंग को कोई और लेखक-लेखिका अपनी आत्मकथा का हिस्सा बना रहा होता तो इसे विवादास्पद और चर्चित बनाने के दृष्टिगत अश्लील अतिरंजना के विवरण भर देता, लेकिन यहां बलराम के लेखकीय संयम को दाद देनी पड़ेगी कि उन्होंने पीढ़ीगत अंतराल की मर्यादा को कायम रखा। दिल्ली के गांव सादतपुर में बाबा से बलराम की वार्ता के अनेक प्रसंग इस पुस्तक में हैं, लेकिन त्रिलोचन के पेटू होने का प्रसंग बेहद दिलचस्प है।

जहां भी बलराम को गुंजाइश दिखती है, वे छद्म पर चोट करते हैं। भीष्म साहनी के निधन के बाद उनके अंतिम संस्कार में आयोजित कर्मकांड को लेकर नामवरसिंह लिखते हैं : 'चिता सजी थी। चिरी लकड़ियों की शैया पर भीष्म लेटे थे। पितामह साहित्य के। इधर वेद मंत्रोच्चार और उधर पंक्तिबद्ध बौद्ध भिक्षुओं का समवेत मंत्र पाठ। गरज कि भीष्मजी के 'वांग्चू' भी इस मौके पर मौजूद थे। सेकुलर सज्जनों के लिए यह सब 'पिक्क्यूलियर' था। कुछ-कुछ धर्म संकट-सा। भीष्म साहनी की अंत्येष्टि में ऐसा

धार्मिक अनुष्ठान!' इसके आगे भीष्म साहनी की आत्मकथा 'आज के अतीत' से बलराम एक प्रसंग उठाते हैं : वक्त बीतने पर शायद प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए एक छोटा-सा निजी धर्म गढ़ लेता है। यह धर्म उन गिने-चुने छंदों, दोहों-चौपाइयों आदि का समूह होता है, जिन्हें वह आजीवन संजोता रहता है। यह है आज के हमारे भीष्म पितामह का सच, जिसे पढ़कर वामपंथी मित्र भी चाहें तो भारतीय जीवन-जगत् के मर्म को समझ सकते हैं।

पूरी पुस्तक में बलराम को ऐसा गिला-शिकवा किसी लेखक पत्रकार से नहीं कि वे प्रतिकार लेने को उद्यत हो जाएं। राजेंद्र माथुर और विष्णु खरे उनकी पदोन्नति में बाधक बनते रहे, इसके बावजूद वे उदार और निर्विकार बने रहते हैं। कर्तव्य-पालन के चलते वे अपने बेटे का उचित इलाज नहीं करा पाते और वह चल बसता है। यह इस कथा का दुखद और दारुण प्रसंग है, जिसे वह सुरेंद्रप्रताप सिंह के कहने पर आखिरकार दबा लेते हैं, जबकि यूनियन उनके साथ हुए अन्याय के परिप्रेक्ष्य में प्रदर्शन पर उतर आई थी। ये संस्मरण संपूर्ण आत्मकथा इसलिए भी नहीं हैं, क्योंकि इसमें बलराम का परिवार, प्रेमिका, पत्नी और बच्चे लगभग गायब हैं। मां की भूमिका पाजेब बेचकर साइकिल दिलाने तक सीमित है तो सलमा की झलक भर है, उसकी आदमकद उपस्थिति कमोबेश विलुप्त है। यही स्थिति पत्नी और बच्चों की है। हां, लेखक, पत्रकार और आलोचक खूब हैं। उनके कथन और कृतियां हैं। शायद इसीलिए बलराम ने आरंभ में ही सहज भाव से स्वीकार भी कर लिया है कि यह 'अपने बहाने औरों की कथा' है। औरों के लिए ही सही, इस पुस्तक की अपनी साहित्यिक उपादेयता है, जिसे असें तक साहित्य एवं पत्रकारिता के हलकों में बार-बार पढ़ा जाता रहेगा।

माफ करना यार/बलराम/सामयिक प्रकाशन, 3321-22, जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002/मूल्य : ` 360

शब्दार्थ, 49, श्रीराम कॉलोनी, शिवपुरी (म.प्र.) मो. 09425488224

# आख्यान बनती यात्राएं

पल्लव

अ

शोक अग्रवाल एक कहानीकार के रूप में पर्याप्त समादृत-चर्चित हैं, इधर उनके यात्रा-वृत्तांतों की पुस्तक 'किसी वक्त किसी जगह' अभी आई है। जिन पाठकों ने उनकी कहानियां पढ़ी हैं वे स्वीकार करेंगे कि अशोक अग्रवाल का स्वभाव मूलतः घुमक्कड़ के मिजाज वाला है। जब वे अपने इस मिजाज को किसी विधागत ढांचे में ढालने के बजाय सीधे-सीधे मन की कहते हैं तो उनकी रचनाशीलता बेहद जीवंत, अकुंठ और अकृत्रिम हो जाती है। इधर हिंदी में स्थापित विधाओं के अलावा नई विधागत प्रवृत्तियों पर जो उत्साह देखा गया है वह सचमुच सुखद है। डायरी, अंकन, संस्मरण, साक्षात्कार, रेखाचित्र और यात्रा-वृत्तांत विधाई सीमाओं को तोड़कर जीवन की सच्ची ऊर्जा और अप्रतिम भावबोध की सृष्टि करने में समर्थ दिखाई पड़ रहे हैं। इसका बड़ा कारण यही हो सकता है कि रचनाशीलता सचमुच किसी खांचे का पर्याय नहीं हो सकती। अपने समय के यथार्थ और जीवन की पुनर्रचना भला किसी भांति आए, उसका स्वागत करना ही चाहिए।

यात्रा-वृत्तांतों के साथ एक उलझन रही है। भला जब इंटरनेट-टीवी हैं तो किसी स्थान का कैसा भी चित्र किताब में कैसे आकर्षक होगा? लेकिन इस उलझन का रास्ता भी बड़ा सीधा-सरल है। यात्रा तो की लेकिन वहां की जगहें ही देखीं या लोगों से मिले? वस्तुएं निहारने और जिंदगियों को अनुभूत करने का फर्क यात्रा-वर्णन को मूल्यवान बनाता है। तभी यात्रा का उद्देश्य और कुछ नहीं रह जाता। अशोक अग्रवाल इसी मन-मिजाज के यायावर हैं। हिमालय से अधिक आकर्षण हमारे आसपास भला कहां होगा? आश्चर्य नहीं कि हिंदी के अधिकांश श्रेष्ठ यात्रा-वृत्तांतों

में हिमालय केंद्र में रहा है। यह पुस्तक भी हिमालय से प्रारंभ होती है और भारत के अंतिम छोर केरल तक इन यात्राओं का विस्तार रहा है।

जहां से यह सफर शुरू हुआ है वह स्थान है सुनस्यारी के आसपास का हिमालय। और वहीं 'गोरी' कलकल बह रही है। यात्री उत्साह देखिए—'गोरी की आवेशभरी उछल-कूद की अवहेलना संभव नहीं। खुले आकाश को देखते नृत्य की मुद्रा में बाहें फैलाए पाषण-नर्तक को चारों ओर से बांहों में भरती 'गोरी' उसके चेहरे की ओर लपकती और फुहारों में बिखर जाती। थकना और हारना 'गोरी' का स्वभाव नहीं। इसकी विशाल अनगढ़ देह को 'गोरी' के कलाकार हाथों ने बरसों से तराशने के बाद लोच भरे नर्तक का रूप दिया है। वह उसका चेहरा छूकर रहेगी।...नर्तक के शीर्ष पर अपना वाद्य बजाता पीली और लाल चोंच वाला 'च्यां कौआ'। महान नर्तक ने क्षणों में हमारी सारी थकान को चीथ डाला।' अग्रवाल अपनी



घुमक्कड़ी में प्रकृति से मुग्ध होते हुए भी आसपास के संसार को भूल नहीं जाते, अक्सर उन्हें अपने साथ के किसी ग्रामीण-मजदूर-किसान की परेशानी असुविधा में डाल देती है। जब वे पहाड़ से उतरकर 'अबूझमाड़' के घने जंगलों में पहुंचते हैं तब भी जीवन का उल्लास कैसा है—'किसी पेड़ की शाखाओं से लटक रहे रंग-बिरंगे कपड़ों के टुकड़े तो किसी पत्थर के ऊपर तुरही और काले धागों की मालाएं। यह 'हितवाड़ा' के माड़ियों का पितरदेश है। पितरदेश यानी कब्रिस्तान। लकड़ी के एक बड़े टुकड़े को तराशकर नारी आकार दिया गया है जिसके एक हाथ में लटक रहे पर्स में जड़े छोटे-छोटे गोल शीशे धूप में चमकते हुए। दूसरे हाथ में एक टूटा हुआ आईना। लंबी गर्दन में मोटे काले धागों से गुंथी हुई कई लड़ियों वाली माला। निश्चय ही यह किसी तरुणी का स्मृति-चिह्न है।' इस घने जंगल के बाद है—'सूखे चारागाहों का कब्रिस्तान' अर्थात् बाड़मेर। यहां वृत्तांत के बीच में डायरी भी आ जाती है और आसपास के शहर-कस्बे भी। केरल के मालाबार तटों पर लिखा वृत्तांत 'मूंगे के टापू और सागरपुत्र' सबसे लंबा है और कई उपखंडों वाला। यहां बीच में कई व्यक्ति आते हैं जिन्हें यात्री-चरित्र बना देते हैं। ऐसे ही है एक कोयाजी। कोयाजी कहते हैं—'अरब सागर की ये लहरें हमारे खून में घुली-मिली हैं। हमारा हंसना-रोना, हर्ष-विषाद, जीना-मरना इनकी गति के साथ जुड़ा है। सपनों में भी यही अनेक रूपों में आता है। हम इस धरती के किसी कोने में चले जाएं यह अपने पास बुला ही लेगा।' अग्रवाल ने उचित ही लिखा है कि कोयाजी के लिए अरब सागर कोई कविता या संगीत नहीं, एक ऐसी धड़कती हुई मांसल देह है जिससे उनकी नाल गर्भ से जुड़ी है और मृत्यु तक जुड़ी रहेगी। सात



बहनों अर्थात् पूर्वोत्तर के राज्यों की यात्रा के बाद आता है अमरकंटक, यात्री ने शीर्षक दिया है—‘ब्रह्मा की आंख से गिरे दो आंसू’। कहना न होगा कि इन यात्राओं के चटख रंग और राग-विराग से भरे गीत देर तक पाठक को घेरे रहते हैं।

पुस्तक में यात्राओं से जुड़े कुछ शब्द चित्र भी हैं। भारत के महान कथाकारों में एक, मलयालम के शब्दशिल्पी वायकोम मुहम्मद बशीर के साथ मुलाकात इतनी जीवंत है कि मन हो उठता है तमाम उन कृतियों को पढ़ा जाए जो वशीर ने लिखी हैं। आश्चर्य नहीं आपको वे मुलाकातें याद आ जाएं जो मनोहर श्याम जोशी ने की थीं। शब्दचित्रों की शक्ति वहां हैं जहां सामने कोई बड़ी विभूति न हो तब भी आकर्षण बना रहे। अग्रवाल बस झाइवर सरदार जी और दुर्गालाल वनवासी से जब पाठकों की मुलाकात करवाते हैं तब उनके सरोकारों की गहराई और विस्तार का सहज अनुमान हो आता है। जापान की यात्रा पर लिखा ‘तामोबोचि’ भी इस प्रसंग में पठनीय है।

जिन्हें पढ़कर पाठक का मन हो कि हम भी वहां जाएं, इन जगहों को देखें और इन लोगों से मिलें—उन यात्रा-वृत्तांतों को भला यात्रा आख्यान क्यों न कहें?

किसी वक्त किसी जगह/अशोक अग्रवाल/संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़/मूल्य : ` 250

393, डीडीए, ब्लॉक सी एंड डी, शालीमार बाग, दिल्ली-110088, मो. : 8130072004

विमर्श

# धर्म और सांप्रदायिकता

प्रमोद मीणा

अ

सगर अली इंजीनियर एक अरसे से अपनी वाणी और कलम से सांप्रदायिकता के खिलाफ जेहाद छेड़े हुए हैं। आप सिर्फ अकादमिक दुनिया में हवा में तलवार भांजने वाले समाजशास्त्री नहीं हैं अपितु व्यावहारिक स्तर पर सांप्रदायिकता के शैतान से दो-दो हाथ करते आए हैं। सांप्रदायिक हिंसा से ग्रसित क्षेत्रों और पुलिस-सेना के जवानों से लेकर महाविद्यालय-विश्वविद्यालय के छात्रों तक के साथ निरंतर संवादरत रहकर धार्मिक सहिष्णुता और समाज की सही समझ विकसित करने में अपना पूरा जीवन समर्पित कर चुके हैं। धार्मिक कट्टरपंथियों के विरुद्ध अपनी प्रतिबद्धता के साथ-साथ आप अपने समाज की बुराइयों के साथ भी निरंतर जूझते आए हैं। अलग-अलग समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए उनके लेखों का संग्रह वाणी से प्रकाशित होकर ‘धर्म और सांप्रदायिकता’ शीर्षक से आया है। लेखों का संकलन-संपादन मिथिलेश ने किया है और संग्रह की भूमिका में हैं—विभूति नारायण राय। संकलनकर्ता बड़ी मेहनत से लेखक के इधर-उधर बिखरे 81 लेखों को एक स्थान पर संकलित करने के लिए निश्चय ही साधुवाद के पात्र हैं किंतु छापे की बहुत सारी भूलों और संपादन कर्म की शिथिलता के कारण लेखों के पठन के दौरान बारंबार वैसी ही किरकिराहट होती रहती है जैसे दाल में कंकर आने पर होती है। न तो कालक्रम की दृष्टि से और न विषय के नजरिए से ही इन लेखों का समुचित संपादन हो पाया है। इसी प्रकार विभूति नारायण राय की चार पृष्ठों की भूमिका भी चलताऊ ढंग की है। लेकिन सांप्रदायिकता और भारतीय समाज को समझने में असगर अली इंजीनियर के ये लेख बहुत ही महत्वपूर्ण हैं विशेषतः आज की उस चुनावी राजनीति में जहां

तथाकथित हिंदू हृदय सम्राट श्री नरेंद्र मोदी को सांप्रदायिक शक्तियां भावी प्रधानमंत्री के तौर पर पेश कर रही हैं।

अपने इन लेखों में लेखक की स्पष्ट मान्यता है कि धर्म कभी सांप्रदायिकता का हेतु नहीं होता अपितु राजनीतिक और आर्थिक हितों के चलते धर्म का दुरुपयोग सांप्रदायिकता का कारण बनता है। आजादी के उपरांत हुए दंगों पर व्यापक प्रकाश डालते हुए विभिन्न लेखों में दंगों के कारणों और उनकी प्रकृति का विवेचन किया गया है। लेखक के अनुसार भारत में सांप्रदायिकता का मूल उत्स अंग्रेजी साम्राज्यवाद की ‘फूट डालो और राज करो’ की रणनीति में निहित है जिसकी परिणति राष्ट्र के विभाजन में होती है। पुस्तक में सर्वहारा मुसलमानों और उलेमा वर्ग को द्विराष्ट्र सिद्धांत का विरोधी बताया गया है और मुस्लिम श्रेष्ठी वर्ग की महत्वाकांक्षाओं को इसके लिए उत्तरदायी ठहराया गया है। भारत का बहुसंख्यक मुस्लिम समाज दलित-पिछड़ी हिंदू जातियों से धर्मांतरित



तबका था जिसे पाकिस्तान से कोई लेना-देना न था किंतु तत्कालीन मुस्लिम सामंती समुदाय और पढ़े-लिखे उच्च जातीय मुसलमानों की जिद ने बहुसंख्यक मुसलमानों का भविष्य अंधकारमय कर दिया। आज तक सांप्रदायिक हिंदू ताकतें बहुसंख्यक मुसलमानों की निष्ठा पर सवाल उठाती रहती हैं जबकि विभाजन का दुष्परिणाम सबसे ज्यादा उन्होंने ही झेला है। लेखक की पीड़ा जायज है कि सांप्रदायिक विभाजन की धुंध में आजादी के लिए मर-मिट गए मुसलमानों का आज कोई नामलेवा भी नहीं है। हमारे नेताओं की बहुसंख्यक मानसिकता और विद्यालयी पाठ्यक्रम तैयार करने वालों के तंग नजरिए के चलते भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में अल्पसंख्यकों की भूमिका को पूरी तरह से नजरअंदाज कर दिया गया है। आजादी की लड़ाई में मुस्लिमों के योगदान के साथ-साथ लेखक सूफी आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में हिंदू-मुस्लिम साझा संस्कृति पर छा गए वक्त के जालों को भी साफ करता है। स्वाधीनता के उपरांत भी आज रह-रहकर सांप्रदायिकता की आग सुलग पड़ती है। इस आग को हवा देने में हमारे द्वारा अपनाए गए अंग्रेजी संसदीय प्रजातांत्रिक मॉडल की मुख्य भूमिका है। पुस्तक दिखाती है कि यह मॉडल ब्रिटेन के एकधर्मी समाज में जन्मा था अतः हमारे बहुधर्मी समाज के लिए पूरी तरह अनुपयुक्त है। बहुमत की राजनीति के चलते सभी राजनीतिक दल प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से जाति और धर्म को चुनाव जीतने का मोहरा बनाते रहते हैं। लेखक केंद्र और विभिन्न राज्यों के चुनाव में विजय हेतु कम-से-कम आधे से ज्यादा मतों की अर्हता के प्रावधान का समर्थक है। इसके साथ ही चुनाव आयोग के सशक्तिकरण का भी हामी है। इधर कुछ समय से अल्पसंख्यकों के पृथक् राजनीतिक दल की मांग उठने लगी है किंतु लेखक इस प्रकार के राजनीतिक दल से पैदा होने वाले धार्मिक ध्रुवीकरण के खतरों की ओर इशारा करते हुए इस मांग को खारिज कर देता है। पुलिस और सुरक्षा बलों में घर कर गई सांप्रदायिकता पर उंगली रखते हुए लेखक इनमें अल्पसंख्यक समुदायों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व पर बल देता है।

लेखक ने हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के साथ-साथ हिंदू-ईसाई तनाव और दंगों के परिप्रेक्ष्य में सांप्रदायिकता के नए आयाम को भी अपना विषय बनाया है। दलितों और आदिवासियों के ईसाई धर्म में धर्मांतरण से बौखलायी हिंदुत्ववादी शक्तियां अब ईसाइयों

को भी निशाना बनाने लगी हैं। मुसलमानों के चार विवाह और उनकी जनसंख्या वृद्धि का झूठा हौवा खड़ा करने वाला संघ परिवार ईसाइयों पर भी आर्थिक प्रलोभन द्वारा जबरन धर्म परिवर्तन का आरोप लगा रहा है। लेखक इस परिप्रेक्ष्य में भाजपा शासित राज्यों में बनाए गए धर्मांतरण विरोधी कानूनों के संवैधानिक अनौचित्य पर प्रश्नचिह्न खड़ा करता है। केंद्र सरकार के प्रस्तावित सांप्रदायिक हिंसा निरोधक विधेयक को भी लेखक रोग से बदतर इलाज बताता है।

मुसलमानों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति की प्रामाणिक जानकारी हेतु गोपालसिंह समिति की तर्ज पर बनाई गई सच्चर समिति की रपट पर देशव्यापी बहस छिड़ गई है। लेखक ने भी कुछ लेखों में इस रपट के परिप्रेक्ष्य में सरकारी सेवाओं में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व, उनकी शैक्षणिक और आर्थिक स्थिति का जायजा लेते हुए भी मुस्लिम सांप्रदायिक नेताओं की धर्म आधारित आरक्षण की मांग को खारिज कर दिया है क्योंकि यह असंवैधानिक है। इसकी बजाय मुस्लिम जनसंख्या के अनुपात में बजट में उनकी हिस्सेदारी और समान अवसर आयोग की स्थापना पर बल दिया है। मदरसों के आधुनिकीकरण और मुस्लिम समाज के आर्थिक विकास हेतु वक्फ संपत्तियों के समुचित प्रबंधन को पुस्तक लेखक आज की आवश्यकता बताता है।

मुस्लिम स्त्रियों की बदहाल स्थिति के लिए लेखक पितृसत्तावादी मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के सदस्यों और उलेमाओं को जवाबदेह ठहराता है। लेखक कुरआन की आयतों के प्रमाण के साथ इस्लाम को मूलतः स्त्रियों के प्रति न्यायपूर्ण और सहानुभूतिशील बताता है किंतु इस्लामिक विधिवेत्ता अपने समाजों के पितृसत्तात्मक मूल्यों से प्रभावित होकर कुरान के निर्देशों की गलत व्याख्या किया करते हैं। अतः लेखक की मान्यता है कि इस्लामिक कानून की विभिन्न शाखाओं के आधार पर आधुनिक संदर्भ में मुस्लिम लॉ को संहिताबद्ध करने की आवश्यकता है। इस्लामिक कठमुल्लाओं की रिवायत का जवाब में इस्लामिक कानूनों के इज्तेहाद के प्रावधान का इस्तेमाल करना ही समुचित रणनीति बताई गई है। इसी प्रकार कुरान विरोधी तलाक के स्थान पर कुरान की मूल मान्यताओं के अनुसार आदर्श निकाहनामा भी लेखकीय चिंताओं में है। महिला आरक्षण बिल पर की जाने वाली पिछड़ा-अल्पसंख्यक राजनीति से भी लेखक

का विरोध है।

आतंकवाद को धर्म विशेष से जोड़े जाने पर लेखक को सख्त एतराज है। भाजपा और संघ परिवार का यह दावा कि 'सारे मुसलमान आतंकवादी नहीं होते किंतु सारे आतंकवादी मुसलमान होते हैं' अब मालेगांव बम विस्फोट में अभिनव भारत का नाम सामने आने पर झूठ का पुलिंदा साबित हो चुका है। लेखक का यह निष्कर्ष सही है कि न 'इस्लामिक आतंकवाद' होता है और न 'भगवा आतंकवाद'। लेकिन हमारी मीडिया और सुरक्षा तंत्र किसी भी आतंकवादी घटना के सामने आने पर बिना एक पल गंवाए मुस्लिम चरमपंथियों और पाकिस्तान पर आरोप लगा देते हैं। एक-दो लेखों में मदरसों को आतंकवाद पैदा करने की फैक्ट्री बताने वाली भ्रांतियों का भी निवारण किया गया है। दूसरी ओर मानवीय मूल्यों से रहित तकनीकी शिक्षा प्राप्त युवकों के आतंकवादी बन जाने की आशंकाओं से भी इंकार नहीं किया गया है। पुस्तक में 'पोटा' और 'मकोका' जैसे कठोर कानूनों का दुरुपयोग निर्दोष गरीब मुसलमानों को फंसाने में किए जाने पर क्षोभ व्यक्त किया गया है। लेखक आतंकवाद को कानून-व्यवस्था से जोड़ने के स्थान पर एक राजनीतिक समस्या मानता है जिसका समाधान भी राजनीतिक पहल बिना संभव नहीं है। सुरक्षा तंत्र की चुस्ती-फुर्ती के साथ-साथ अवसरों की उपलब्धता व आर्थिक विकास और अपेक्षित स्वायत्तता के प्रावधान जरूरी हैं। पुस्तक अमेरिकी ढंग की आतंकवाद विरोधी प्रतिहिंसक मुहिम की असफलता से सतर्क करती है। अंत में गरीबी-भुखमरी-बेरोजगारी से जूझते भारत और पाकिस्तान के साथ-साथ बांग्लादेश और श्रीलंका को भी लेखक की यह नसीहत है कि वे यूरोपीय यूनियन की तर्ज पर एक महासंघ बना लें ताकि युद्ध के ताम-झाम पर खर्च होने वाला पैसा इनकी भूख-बीमारी-अशिक्षा-बेरोजगारी इत्यादि के खात्मे में लगाया जा सके। आमीन...।

धर्म और सांप्रदायिकता/असगर अली इंजीनियर/वाणी प्रकाशन, 21ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 मूल्य : ₹ 695

अस्सिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, पांडिचेरी विश्वविद्यालय, पुडुचेरी-605014 मो. 9344008481



# फिल्मों के माध्यम से गंभीर विचार-विमर्श

प्रांजल धर

आ

तंकवाद हमारे समय और समाज की एक गंभीर वैश्विक समस्या के रूप में उभरा है और बेहतरीन फिल्मों ने सदैव सामाजिक समस्याओं को केंद्र में रखने की कोशिशें की हैं। जवरीमल्ल पारख की पुस्तक 'साझा संस्कृति, सांप्रदायिक आतंकवाद और हिंदी सिनेमा' संस्कृति और आतंकवाद से जुड़ी अनेक हिंदी फिल्मों का रोचक और महत्वपूर्ण विश्लेषण करती है। यह पुस्तक इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि आज सिनेमा पर हिंदी में पुस्तकें तो बहुत मौजूद हैं लेकिन विचारशील और गंभीर पुस्तकों का आज भी अभाव ही है। अधिकतर पुस्तकें या तो कोरियोग्राफी और सीन इलस्ट्रेशन तक सिमटकर रह जाती हैं या फिर सिनेमा का नीरस-सा इतिहास भर ही पेश करती हैं। इसके उलट यह पुस्तक धर्म और रीति-रिवाज जैसे, सभ्यता के निर्मायक बुनियादी तत्वों की गहन पड़ताल भी करती हैं और पाठकों की रुचि भी बनाए रखती है।

जवरीमल्ल पारख की यह पुस्तक पांच खंडों में विभाजित है। पांचवें और आखिरी खंड में तीन अध्याय हैं, बाकी चारों खंडों में दो-दो अध्याय हैं। पहला खंड साझा संघर्ष के इतिहास का विश्लेषण करता है। इस खंड में दो अध्याय हैं, पहला 1857 के गदर से संबंधित है और दूसरा साझा संघर्ष और दमन से। अभी ज्यादा दिन नहीं बीते जब सन् 2007 में 1857 के महासंग्राम की डेढ़ सौवीं जयंती मनाई गई थी। यह जानना रोचक है कि हिंदी सिनेमा ने इस महासंग्राम को किन-किन रूपों में प्रस्तुत किया है? दरअसल हिंदुस्तान की आजादी को छह दशक बीत गए लेकिन इतिहास के इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर कम ही फिल्में बनी हैं। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई

के जीवन पर 1953 में जाने-माने फिल्मकार सोहराब मोदी ने 'झांसी की रानी' नाम से एक फिल्म बनाई थी। इसके लगभग ढाई दशक बाद दो महान फिल्मकारों की फिल्में एक साल के अंतराल पर प्रदर्शित हुई थीं। 1977 में सत्यजीत रे की 'शतरंज के खिलाड़ी' और इसके बाद सन् 1978 में श्याम बेनेगल द्वारा निर्देशित फिल्म 'जुनून' आई थी। फिर इसके करीब ढाई दशक पश्चात् सन् 2005 में केतन मेहता ने 'मंगल पांडे : द राइजिंग' नामक फिल्म का निर्माण किया। इस प्रकार ये चारों फिल्में किसी-न-किसी रूप में 1857 के विषय से जुड़ी हुई हैं। लेखक जवरीमल्ल पारख ने इन फिल्मों को न सिर्फ बाकायदा देखा और समझा है बल्कि एक-एक महत्वपूर्ण कोण पर गंभीरतापूर्वक लिखा भी है। मसलन, वे बताते हैं कि इनमें से 'जुनून' और 'शतरंज के खिलाड़ी' साहित्यिक कृतियों पर आधारित हैं। 'जुनून' का निर्माण भारत के अंग्रेजी लेखक रस्किन बांड के उपन्यास 'ए फ्लाइट

ऑफ पिजंस' की प्रेरणा से और 'शतरंज के खिलाड़ी' का निर्माण प्रेमचंद की इसी नाम की एक कहानी के आधार पर किया गया था। ये दोनों फिल्में भले ही साहित्यिक रचनाओं पर आधारित नहीं हैं लेकिन उनके पात्र वास्तविक हैं। इन चारों फिल्मों का सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए जवरीमल्ल पारख ने इस विषय पर पहले खंड के दोनों अध्याय इन्हीं चारों फिल्मों को समर्पित किए हैं।

सत्यजीत रे बांग्ला फिल्मकार थे और 'शतरंज के खिलाड़ी' उनकी पहली फिल्म है जिसे उन्होंने हिंदी में बनाया। अपने जीवन की दूसरी हिंदी फिल्म 'सद्गति' भी उन्होंने प्रेमचंद की इसी नाम की एक कहानी को मद्देनजर रखते हुए बनाई थी। 'शतरंज के खिलाड़ी' एक छोटी लेकिन जानी-मानी कहानी है जिसमें प्रेमचंद ने वाजिद अली शाह के जमाने के सामंती लखनऊ की पतनशील संस्कृति को उजागर किया है। मीर रौशन अली और मिरजा सज्जाद अली नाम के दो जमींदारों की शतरंज खेलने की लत के बहाने उन्होंने इस विडंबना को रूपायित किया है कि जो सामंत शतरंज के बादशाह और वजीर के लिए एक-दूसरे की जान ले लेते हैं, वे अपने वतन की रक्षा के लिए एक बूंद खून तक बहाने को तैयार नहीं हैं।

इसी तरह 'मंगल पांडे : द राइजिंग' के फिल्मकार ने दावा किया कि 'फिल्म वास्तविक घटनाओं पर आधारित है' जिन्हें नाटकीय रूप देने के लिए आवश्यकतानुसार बदल दिया गया है और कुछ कल्पित पात्रों और प्रसंगों की रचना की गई है। गौरतलब है कि इस फिल्म में फिल्मकार ने जिन प्रसंगों और पात्रों को जोड़ा है उनमें से ज्यादातर का संबंध न सिर्फ मंगल पांडे से नहीं था, बल्कि उनका संबंध



बैरकपुर या 34वीं बंगाल नेटिव इन्फैंट्री से भी नहीं था। पारख यहां शर्मिष्ठा गुप्त के लेख समेत अनेक प्रामाणिक संदर्भों का उल्लेख करते हैं कि किस प्रकार यह फिल्म 1857 के पहले और बाद में घटित होने वाली अनेक घटनाओं से गुंथी-बिंधी हुई है।

दूसरा खंड विभाजन की त्रासदी और हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर आधारित है। भारत के पूर्वी और पश्चिमी प्रांतों में जहां मुसलमान बहुसंख्यक थे, उन्हें अलग नए राष्ट्र पाकिस्तान का हिस्सा बनाया गया था। विभाजन की यह कहानी महज कागजों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि इसमें बहुत सारे लोगों की भावनाएं तथा विस्थापन और दंगों समेत शरणार्थियों की समस्याएं जुड़ी हुई थीं। विभाजन की इस त्रासदी पर हिंदी, उर्दू, पंजाबी, बांग्ला और दूसरी कई भाषाओं में कविताएं, कहानियां, उपन्यास और नाटक लिखे गए। अनेक भुक्तभोगियों ने संस्मरण लिखे और इस विभाजन की तरह-तरह से व्याख्याएं की गईं। फिर भी इस बात पर हैरत होती है कि हिंदुस्तान, पाकिस्तान और बाद में बनने वाले बांग्लादेश के फिल्मकारों ने विभाजन के बाद के चार दशकों तक मुश्किल से दो-चार फिल्में ही बनाईं। पिछली सदी के अस्सी के दशक में जब भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में धार्मिक तत्त्ववादियों और सांप्रदायिक उग्रवादियों का असर बढ़ने लगा तो फिल्मकारों के लिए भी हिंदू-मुस्लिम संबंधों की उपेक्षा करना मुमकिन नहीं रह गया। उन्होंने विभाजन से भरे इतिहास को समझने की कोशिशें शुरू कर दीं। भारतीय उपमहाद्वीप के लोगों पर विभाजन की त्रासदी के दुष्परिणामों की समीक्षा की जाने लगी। इन्हीं ठोस कारणों के चलते इस दौर में हिंदुस्तान-पाकिस्तान संबंधों, सांप्रदायिक दंगों और आतंकवाद को केंद्र में रखकर ही फिल्में नहीं बनीं बल्कि धार्मिक अल्पसंख्यकों के रूप में मुसलमान, ईसाई व पारसी आदि समुदायों की आंतरिक हालात का जायजा लेने वाली फिल्में भी निर्मित होनी शुरू हुईं।

कहने की जरूरत नहीं है कि यह धारणा इतिहास की गलत समझ पर आधारित है कि हिंदू भारत के मूलवासी हैं और मुसलमान, ईसाई या पारसी आदि विदेशी। सच्चाई यह है कि इस उपमहाद्वीप में हजारों सालों से विभिन्न जातियों, धर्मों और नस्लों आदि के लोग रहते

चले आ रहे हैं और यहां आकर बसते रहे हैं। देश के विभाजन को लेकर पहली उल्लेखनीय फिल्म एम.एस. सथ्यु की 'गरम हवा' (1973) थी। इससे पहले 'छलिया' (1960) और 'धर्मपुत्र' (1961) में विभाजन की बातें मौजूद थीं लेकिन वे महज संदर्भ की शक्ति तक ही सीमित थीं। 'गरम हवा' के करीब नौ साल बाद आई रिचर्ड एटनबरो की फिल्म 'गांधी' में भी विभाजन का जिक्र मौजूद था। इसके पांच साल बाद भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' पर आधारित 'तमस' (1987) का धारावाहिक रूप में निर्माण हुआ। यह पूरी तरह से विभाजन को लेकर चलने वाली फिल्म थी और विभाजन की पूर्व संध्या में होने वाले दंगों में अंग्रेजी सरकार की भूमिका का खुलासा करती है। इस फिल्म के एक दशक पश्चात् अपनी फिल्म 'फायर' से चर्चित हुई दीपा मेहता ने फिल्म 'अर्थ : 1947' का निर्माण किया। यह भी विभाजन पर आधारित फिल्म थी। गौरतलब है कि श्याम बेनेगल इससे पहले 1994 में 'मम्मो' का निर्माण कर चुके थे। यह फिल्म इस बात का एक अच्छा उदाहरण पेश करती है कि किस प्रकार विभाजन को सीधी कहानी न बनाकर पार्श्व की एक ठोस कहानी के रूप में चित्रित किया जा सकता है। विभाजन पर ही 2003 में एक दूसरी फिल्म 'पिंजर' का निर्माण हुआ जो अमृता प्रीतम के पंजाबी उपन्यास 'पिंजर' पर आधारित थी। इसका निर्देशन डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी ने किया था। डॉ. द्विवेदी के जाने-माने धारावाहिक 'चाणक्य' को लोग आज भी याद करते हैं।

लेखक ने पिछली सदी के अस्सी के दशक को विशेष रूप से व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार यह केवल संयोग नहीं है कि 1980 के बाद हिंदी फिल्मों में सांप्रदायिकता का सवाल बेहद महत्वपूर्ण तरीके से पेश किया जाने लगा। ऐसा दोनों तरह की फिल्मों में हो रहा था, चाहे वे व्यावसायिक और लोकप्रिय फिल्में हों चाहे रचनात्मक और सामाजिक अथवा कलात्मक फिल्में। अस्सी के दशक में ही जनता पार्टी की सरकार ने देश में कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत किया था। इसी समय पाकिस्तान में खालिस्तान की मांग भी उठी। लेखक ने 'हे राम' और 'गदर : एक प्रेमकथा' के पात्रों का तुलनात्मक निरूपण किया है और बताया है कि जहां 'हे राम' में

आत्मावलोकन का प्रयास नजर आता है, वहीं 'गदर : एक प्रेमकथा' के तारासिंह में कोई परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता। तारासिंह, 'हे राम' के साकेत राम की तरह का आदमी नहीं है। उसे सकीना से सच्चा प्रेम हो जाता है और उसके प्रेम के प्रतीक को ताजमहल के जरिए व्यक्त किया गया है जिसको वह सकीना को कालेज से विदा होते समय उपहारस्वरूप प्रदान करता है। सकीना दंगों के दौरान भागते हुए भी इस प्रतीक को संभालकर रखती है।

तीसरा खंड सांप्रदायिक राष्ट्रवाद से फासीवाद तक की वैचारिकी की पड़ताल करता है। आज उस बेनेडिक्ट एंडरसन की इस बात पर सभी लोग विमर्श करते हैं कि राष्ट्र एक कल्पित समुदाय यानी इमेजिंड कम्युनिटीज है, तब राष्ट्रवाद पर संचार माध्यमों के नजरिए से सोचने की जरूरत बढ़ जाती है। और फिल्में एक तरीके से हमारे संचार माध्यमों के डिस्प्ले विंडो की तरह ही हैं। हमारी आजादी के समय अंग्रेजों द्वारा सत्ता हस्तांतरण जिन शर्तों पर हुआ था, उनमें धर्म के आधार पर हमारे देश का दुखद बंटवारा तो शामिल था ही, इसके अलावा जो सामंती रियासतें सीधे अंग्रेजों के अधिकार में नहीं थीं, उन्हें भी यह अधिकार दिया गया था कि वे अपनी इच्छा से हिंदुस्तान या पाकिस्तान में अपना विलय कर सकती हैं। जम्मू और कश्मीर एक ऐसी रियासत थी जिसका राजा तो हिंदू था लेकिन इस राज्य में रहने वाले लोगों में मुसलमानों का बहुमत था। भौगोलिक रूप से कश्मीर की स्थिति विशिष्ट थी क्योंकि इसकी सीमाएं भारत और पाकिस्तान दोनों देशों से मिलती थीं। हिंदी फिल्मों के लिहाज से जहां 1980 के पहले वाली फिल्में कश्मीर की खूबसूरती को उकेरती थीं (यहां 'कश्मीर की कली' जैसी अनेक फिल्मों का नाम लिया जा सकता है) वहीं अस्सी के बाद कश्मीर की वादियां हिंदी फिल्मों से गायब होने लगीं। नब्बे के दशक में उनकी वापसी भी हुई तो ज्यादातर आतंकवाद के संदर्भ में ही। यहां पुलिस की पक्षपातपूर्ण सांप्रदायिक भूमिका भी सवाल के घेरे से बाहर नहीं रही है। सांप्रदायिक राष्ट्रवाद और कश्मीर पर लिखते हुए लेखक ने बात की शुरुआत प्रख्यात फिल्मकार मणिरत्नम की फिल्म 'रोजा' से की है। 'मिशन कश्मीर', 'मैं हूँ ना' और 'शौर्य' से लेकर 'लम्हा' तक अनेक ऐसी

फिल्में बनाई गईं जिनमें राष्ट्रवाद के सामने कश्मीर की चुनौती का वर्णन-विश्लेषण किया गया। विश्वनाथ प्रताप सिंह के प्रधानमंत्री रहते तत्कालीन गृहमंत्री मुफ्ती मुहम्मद सईद की बेटी रुबैया सईद का श्रीनगर में कश्मीरी आतंकवादियों ने अपहरण कर लिया था, जिसे छुड़ाने के बदले भारत सरकार को जेल में बंद कुछ आतंकवादियों को रिहा करना पड़ा था। अपहरण की इसी घटना से प्रेरित होकर मणिरत्न ने 'रोजा' का निर्माण किया था। तमिल में बनाई गई यह फिल्म हिंदी में डब की गई थी। इस फिल्म में नायक का राष्ट्रवाद शुरू-शुरू में तो सोया हुआ रहता है लेकिन बाद में वह जागता है। नायक की राष्ट्रभक्ति को उग्रवादी सरगना लियाकत, जिसकी भूमिका पंकज कपूर ने निभाई है, के संदर्भ में दिखाया गया है। इस फिल्म में धर्मोन्माद का रूपांकन बेहद बारीकी से किया गया है। 'रोजा' में सांप्रदायिक राष्ट्रवाद के मर्मस्पर्शी रूपायन के कारण ही लालकृष्ण आडवाणी और टी. एन. शेषन ने इस फिल्म की प्रशंसा की है।

पर सिर्फ विषय के अच्छे हो जाने से ही फिल्म अच्छी नहीं हो जाती। इसका एक उदाहरण 'मैं हूँ ना' है जिसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि यहां मसाला फिल्म बनाने के फेर में पड़कर फिल्म का ही सत्यानाश कर दिया गया है। फिल्म का मकसद भारत और पाकिस्तान के बीच दोस्ती को मजबूत करना है और विसंगति यह है कि फिल्म में यह काम भी सेना के जरिए करवाया गया है। कठिनाई यह है कि इस फिल्म का एक बड़ा हिस्सा फिल्म के मूल विषय से बिल्कुल भी मेल नहीं खाता और प्रभाव के स्तर पर फिल्म दर्शकों के दिलों को छू नहीं पाती। जेम्स मोनैको ने बहुत पहले अपनी चर्चित कृति 'हाऊ टू रीड ए फिल्म' लिखकर यह साबित कर दिया था कि वास्तव में किसी भी फिल्म को समझने के लिए उसे देखने के साथ-साथ पढ़ना भी पड़ता है। इस बात को समझने वाले निर्देशकों ने अपनी प्रतिभा का लोहा बार-बार मनवाया है और एक आम दर्शक भी ऐसी ही फिल्मों को याद भी रखता है।

चौथे खंड का नाम 'आतंकवाद और हिंदी सिनेमा' है जिसमें आतंकवाद के सापेक्ष राष्ट्रवादी द्वंद्व और आम आदमी की हालत का जिक्र किया गया है। देखा जाए तो हिंदी

सिनेमा का विकास दक्षिण एशिया की बहुलतावादी सांस्कृतिक परंपरा के एक अंग के रूप में हुआ है। पिछले छह दशकों में हमारे राष्ट्र की निर्मिति की कोशिशें भी इसी परंपरा से जुड़ी हुई हैं। हिंदी का पिछले दो दशकों का सिनेमा अनेक दबावों के बावजूद उन ताकतों के खिलाफ खड़े होने की कोशिशें करता रहा है जो हमारी बहुलतावादी संस्कृति के विरुद्ध हैं। आतंकवाद की संरचना इतनी अधिक जटिल है कि इसके बारे में अनेक नजरियों से विचार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। यह एक महत्वपूर्ण सवाल है कि आतंकवाद क्या खुद में एक समस्या है या फिर किसी समस्या की अभिव्यक्ति? नीरज पांडेय की फिल्म 'अ वेडनसडे' का कथानक आतंकवादी कार्रवाइयों से जुड़े आम आदमी की मुसीबतों से संबद्ध है। दरअसल लोकतंत्र में आम आदमी की बड़ी भूमिका है। राजनीतिक पार्टियां अपने हर अच्छे-बुरे काम को आम जनता का नाम लेकर ही उचित ठहराती हैं। भले ही ऐसे कामों में जनता का भला होता हो या न होता हो। लेखक ने 'ब्लैक फ्राइडे', 'आमिर', 'अ वेडनसडे' और 'मुंबई मेरी जान' नामक चार जरूरी फिल्मों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है ताकि ऐसे आतंकवाद को समझा जा सके जिसे कामचलाऊ भाषा में लोग इस्लामी आतंकवाद कह दिया करते हैं। आमतौर पर ऐसी फिल्मों में कोई प्रेम कहानी नहीं होती और यहां भी प्रेम कहानी की बजाय ऐसे विषयों पर ध्यान केंद्रित किया गया है जिसे मार्शल मैक्लूहान की भाषा में हम कोल्ड मेसेज कह सकते हैं। कोल्ड मेसेज यानी ऐसा संदेश जो अपनी प्रकृति में बेहद गंभीर होता है और जिसे समझने के लिए पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों को विशेष तौर पर अपना ध्यान लगाना पड़ता है। यहां मनोरंजन प्रधान नहीं होता, प्रधान होता है शिक्षण।

पांचवां यानी आखिरी खंड साझा संस्कृति की विरासत और हिंदी सिनेमा पर केंद्रित है। इसमें जवरीमल्ल पारख ने बेहद महत्वपूर्ण सवाल उठाए हैं। मसलन, हिंदी सिनेमा किसका प्रतिनिधित्व करता है? हिंदी भाषी समुदाय का, हिंदी-उर्दू भाषी समुदाय का, पूरे भारत का या फिर समस्त दक्षिण एशिया का? अगर हम दक्षिण एशिया की बात करें तो इसमें भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश और नेपाल ही नहीं

बल्कि अफगानिस्तान और श्रीलंका भी शामिल हो जाते हैं। किसी भी सिनेमा की कोई-न-कोई पहचान अवश्य होती है, चाहे वह हॉलीवुड हो या फिर कुछ और। लेकिन हिंदी सिनेमा की असली पहचान क्या है? यह क्षेत्रीय सिनेमा है या राष्ट्रीय सिनेमा? या इससे भी परे कुछ और? जब भी हिंदी सिनेमा की बात की जाती है तो आमतौर पर हमारा मतलब यह होता है कि यह ऐसा सिनेमा है जिसमें पात्रों का वार्तालाप हिंदी में होता हो लेकिन यह जरूरी नहीं कि बातचीत करने वाले पात्र भी हिंदी भाषी ही हों। यह भी आवश्यक नहीं कि कहानी का ताल्लुक हिंदी भाषी क्षेत्र से ही हो। जरूरी तो यह भी नहीं है कि उस फिल्म का निर्माता, निर्देशक, पटकथा-लेखक, अभिनेता-अभिनेत्री या संगीतकार वगैरह भी हिंदी के ही हों। अगर हम किसी भी दौर की महत्वपूर्ण और चर्चित हिंदी फिल्मों की बात करें तो चाहे वह पॉपुलर सिनेमा के तहत आती हों या कला सिनेमा के अंतर्गत, उनमें से ज्यादातर के फिल्मकार हिंदी भाषी नहीं थे और आज भी नहीं हैं। उदाहरण के लिए यहां हिमांशु राय, महबूब, वी. शांताराम, बाबूराव पेंटर, बिमल राय, राजकपूर, ऋषिकेश मुखर्जी, शक्ति सामंत, मनमोहन देसाई, यश चोपड़ा, बासू भट्टाचार्य और गुलजार जैसे अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं। आज के चर्चित फिल्मकारों में कमल हासन, संजय लीला भंसाली, आशुतोष गोवरीकर, रामगोपाल वर्मा, महेश मांजरेकर, मधुर भंडारकर, मणिरत्न और प्रियदर्शन जैसे अनेक लोगों का संबंध गैर-हिंदी भाषी इलाकों से है फिर भी इन सभी ने हिंदी में बेहद कामयाब फिल्में बनाई हैं।

संगीत की सार्वभौमिकता और हिंदी फिल्मों की भाषा के साथ-साथ फिल्मी गीतों के लोकतत्त्व पर लेखक ने बेहतरीन कसौटियां पेश की हैं। अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता होने पर हम फिल्मी भाषा को उर्दू कहने लगते हैं जबकि हिंदी हो या उर्दू हो या फिर हिंदी-उर्दू ही क्यों न हो, है वह एक ही भाषा। इसी प्रकार जब हिंदी भाषा में भोजपुरी का मिश्रण होने लगता है तो उसे हिंदी-भोजपुरी कहा जाने लगता है। उदाहरण के लिए, सलीम-जावेद के लिखे हुए संवाद 'जंजीर' जैसी फिल्म में हिंदी-उर्दू की श्रेणी में रखे जाते हैं और वहीं 'दीवार' जैसी फिल्म में वे हिंदी के माने जाते

हैं। यदि संवाद लेखक के आधार पर तय करें तो मानना होगा कि ज्यादातर हिंदी फिल्मों वास्तव में उर्दू फिल्मों ही हैं। अगर हम भाषा की प्रकृति के आधार पर तय करें तो एक अजीब विसंगति सामने आती है कि हिंदी फिल्मों में वह हिंदी अधिक लोकप्रिय है जो उर्दू लेखकों द्वारा लिखी जाती है, न कि हिंदी लेखकों द्वारा। इसके अलावा पारसी रंगमंच के साथ-साथ अंग्रेजी से आए हुए शब्दों का प्रयोग भी फिल्मों में प्रचुरता से होता है। इसीलिए भाषा का सवाल महत्वपूर्ण बनकर हमारे सामने आता है। 'मुगल-ए-आजम' फिल्म का यह संवाद किसे याद नहीं होगा—“हमें यकीन है कैदखाने के खौफनाक अंधेरों ने, तेरी आरजुओं में वह चमक बाकी न रखी होगी जो कभी थी।” इसी प्रकार लेखक ने 'मदर इंडिया' से लेकर 'लगान' तक के गीतों में लोकतत्त्वों की अच्छी पड़ताल की है। अनेक बार तो लेखक ने पूरा गीत ही उद्धृत किया है ताकि गीत के शास्त्रीय रागों और मात्राओं तक को भली-भांति देखा और समझा जा सके।

कुल मिलाकर यह पुस्तक अपनी बनावट और बुनावट में पाठकों के मन तक पहुंचने में सक्षम है। भाषा में गजब का प्रवाह है और जहां-जहां हमारी गंगा-जमुनी तहजीब पर लेखक ने विश्लेषण किया है, वहां-वहां भाषा की देशजता और वैज्ञानिकता देखने लायक है। हिंदी और उर्दू के शब्दों का आपसी घुला-मिला प्रयोग इस पुस्तक को हृदयग्राही बनाता है। साथ ही जिन फिल्मों का विश्लेषण किया गया है, उनके कुछ महत्वपूर्ण और प्रतिनिधिक दृश्यों की तस्वीर भी पुस्तक में मौजूद है। इससे पाठक को फिल्म-विश्लेषण के विजुवलाइजेशन की सुविधा मिलती है। फिल्मों के माध्यम से राजनीतिक और सामाजिक मुद्दों पर जो रोशनी डाली गई है, उससे पुस्तक का पाठ वैचारिकता के अनेक रुढ़िवादी दायरों को तोड़ता हुआ-सा नजर आता है। इस पुस्तक को पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय भी कहा जाना चाहिए।

साझा संस्कृति, सांप्रदायिक आतंकवाद और हिंदी सिनेमा/जवरीमल्ल पारख/वाणी प्रकाशन, 4695, 21-ए, दरियागंज, दिल्ली-110002/मूल्य : ₹ 400

2710, भूतल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009, फोन 09990665881

# स्नेह ठाकुर की कहानी 'प्रथम डेट' का अंतर्पाठ

साधना अग्रवाल

## हिं

दी कथा संसार में प्रवासी लेखिका स्नेह ठाकुर का नाम बहुत परिचित नहीं है। चूंकि साहित्य की हर विधा में लिखने का प्रयास उन्होंने किया है, लेकिन अब तक ठीक से किसी एक विधा में वे अपनी पहचान नहीं बना पाई हैं। सावधान लेखक आरंभ में इधर-उधर भटकने के बाद भविष्य में अपने लेखन की दिशा तय कर लेते हैं और उसी दिशा में आगे बढ़ते अपनी पहचान को पुख्ता करते हैं। प्रेमचंद ने कभी कविता नहीं लिखी, आ. रामचंद्र शुक्ल ने कविता लिखी लेकिन आलोचना की ओर मुड़ गए। निराला ने कविता, कहानी, उपन्यास लिखे लेकिन कवि के रूप में उन्हें प्रसिद्धि मिली। मेरे कहने का मतलब यह है कि कुछ लेखक शुरू में ही अपने लेखन की दिशा तय कर लेते हैं और अधिकांश लेखक जिंदगी भर तमाम विधाओं में आवाजाही करते पाठकों को भरमाते रहते हैं इसलिए उनकी कोई मुकम्मल पहचान नहीं बन पाती। स्नेह ठाकुर के साथ दिक्कत यह है कि खुद अपने लेखन पर उन्हें भरोसा नहीं है, अन्यथा वे कथा लेखन की ओर ही अपने को प्रवृत्त करतीं। ज्यादातर प्रवासी लेखकों के साथ अतीत की स्मृतियों के साथ सभ्यता, संस्कृति और संस्कार भी जुड़े होते हैं। यही कारण है कि कहानी का फार्म तो बदला होता है लेकिन कंटेंट का मूल आधार स्मृतियां होती हैं।

कनाडा में बसी प्रवासी लेखिका स्नेह ठाकुर की कहानी 'प्रथम डेट' है तो छोटी लेकिन इस कहानी में जैसा अंतर्द्वंद्व है, कहानी को विस्तार ही नहीं देता है, बल्कि पाठकों के मन पर गहरा प्रभाव भी छोड़ती है। कहानी का शीर्षक थोड़ा अटपटा लगता है। प्रथम तत्सम शब्द है और डेट अंग्रेजी शब्द यानी 'विरुद्धों का सामंजस्य'। पूरब और पश्चिम के संस्कारों की टकराहट इस कहानी के केंद्र में है। कहानी में एक परिवार है, जिसमें पति-पत्नी और तीन बच्चे हैं। इस कहानी की नैरेटर परिवार की मां है जिसे 42 साल की उम्र में पति अनिल तीन बच्चों

सहित छोड़कर 22 साल की लड़की जूली के साथ रह रहा है। इस लड़की की उम्र उसकी बेटी से भी कम है। कहानी के नैरेटर में यदि एक तरफ अतीत की स्मृतियां हैं तो दूसरी तरफ वर्तमान की आशंकाएं। कहानी की विडम्बना हमारे समय की विडम्बना कैसे बन जाती है, यह इस कहानी की अंतर्वस्तु है।

कहानी का आरंभ देखिए—'ड्रेसिंग टेबल के आगे खड़े हम दोनों अपनी-अपनी प्रथम डेट के लिए श्रृंगार कर रहे थे। अदिति अपने ब्याँय फ्रेंड ऋतेश के लिए आकांक्षाओं से भरा दिल लिए, कंपकपाते हाथों से अपेक्षाओं को सहेजती हुई और मैं पीयूष के लिए आशंकाओं भरा दिल लिए, थरथरते हाथों से अनिश्चितता का दामन पकड़े।' मां और बेटी एक साथ एक ही समय अपनी पहली डेट के लिए तैयार हो रही हैं। चूंकि अदिति पश्चिमी सभ्यता में पली-बढ़ी है, इसलिए वह पश्चिमी रंग में रंगी हुई है। लेकिन उसकी मां, जिसके संस्कारों में भारतीयता है, वह असमंजस और उहापोह की स्थिति में है। वह समझ नहीं पा रही है कि पहली डेट के लिए जाते हुए उसे किस तरह साज-श्रृंगार करना चाहिए।

नया अनुभव तो अदिति के लिए भी है क्योंकि वह भी पहली बार डेट पर जा रही है लेकिन उसके मन में कोई अंतर्द्वंद्व नहीं है। लेकिन उसकी मां को पारिवारिक जीवन की अतीत की स्मृतियां बेचैन करती हैं। अनिल का वैवाहिक जीवन उसके खिलंदडेपन के बावजूद ठीक-ठाक ही था। यद्यपि शादी के पहले साल ही उसने पत्नी से विश्वासघात किया था और आगे भी करता रहा। लेकिन सब कुछ जानते हुए भी उसकी पत्नी यदि चुप रही तो इसलिए कि उसका वैवाहिक जीवन कहीं बिखर न जाए। यही कारण है कि अतीत की स्मृतियां उसे कुरेदती हैं और उसके मन में आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न होता है। वह सम्मानित जीवन जीना चाहती है लेकिन उसकी नियति आत्मग्लानि, आत्मपीड़ा से जूझने की है। तमाम आशंकाओं के बीच उसने अपने को पहली डेट के लिए तैयार तो कर लिया है लेकिन वह

तमाम आशंकाओं के घिरी है। उसकी बेटी पूछती है—‘कौन सी साड़ी पहन रही हो मां?’ ‘शायद नीली... हल्की सी जरी वाली...’—‘नहीं-नहीं...वातावरण में गुंजे शब्द खुद ही को अजीब लगे और बोल पड़ी, ‘प्रिंटेंड प्योर सिल्क वाली, क्यों ठीक होगी न? और हां मेक-अप कैसा है?’ और पूछते ही इस विचार ने कौंधकर अधरों पर थोड़ी सी मुस्कराहट छिटका दी कि टीनेजर लड़की से बेहतर सलाह डेट्स के श्रृंगार पर और कौन दे सकता है।

मेरी मुस्कराहट ने अदिति को भी अछूता न छोड़ा—‘नहीं नीली जरी वाली मां; कुछ तो ग्लेमरस होना चाहिए न!’ और उसने मेरे गालों को हल्के से मलकर ‘रुज’ को न के बराबर कर दिया और ‘आई-शैडो’ को करीब-करीब मिटा ही दिया।

मैंने दर्पण में देखा तो भौंहे अपने-आप ही सिकुड़ गई, ‘अरे! यह तो ‘मेक-अप’ करने से पहले जैसी थी वैसी ही हो गई हूं।’

‘हां मां, यह तुम्हारा असली रूप ही है। आप ही ने तो हमें हरदम यह सिखाया है कि अंदर का रूप काउंट करता है, बाहर का नहीं। इट्स एन इंपोर्टेंट डेट, यू डॉट वांट टू गिव हिम रांग इम्प्रेसन।’

मां-बेटी के इस संवाद से दो दुनियाओं की मानसिकता का पता चलता है। पूरब की दुनिया मां की दुनिया है और पश्चिम की दुनिया बेटी यानी अदिति की दुनिया है, जिस दुनिया में ग्लेमर है, चमक-दमक है। मां यद्यपि इस चमक-दमक से अछूती नहीं है क्योंकि वह भी अब इस दुनिया में रह रही है इसलिए वह बेटी से पहले श्रृंगार कर रही है। लेकिन गौर करने की बात यह है कि वर्षों पूर्व बेटी को दी गई सीख जो मूलतः भारतीय संस्कार हैं, कि आदमी को वैसे ही रहना चाहिए जैसा वह है यानी बनावट से दूर अपने मौलिक रूप में। पलट कर अदिति द्वारा दिए गए इस दबाव ने मां को विचलित तो किया, साथ ही प्रकृतिस्थ भी।

यह पूरी कहानी मां-बेटी के संवादों से ही भरी नहीं है बल्कि अतीत की स्मृतियों और वर्तमान की परिस्थितियों की टकराहट से भरी है। कहानी संवाद से आगे बढ़ती है और धीरे-धीरे मां को आशंकाओं, निराशाओं, अंतर्द्वंद्व और उधेड़बुन से मुक्त करती है और नए जीवन के प्रति उसके भीतर एक नई लालसा उत्पन्न करती है।

पिछले दिनों भारत भवन भोपाल द्वारा ‘कथा-प्रसंग’ पर चार दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गई थी जिसके पहले सत्र का विषय था ‘कहानी में कथा की जगह’ और अगले दिन के सत्र में ‘समकालीन हिंदी कहानी के लिए विकसित आलोचना के मापदंड’ विषय पर विचार

किया गया। कहानी में कहानी तो होनी ही चाहिए यानी कहानीपन किसी भी कहानी का एक अनिवार्य हिस्सा है। जहां तक मानदंड का सवाल है तो कई वक्ताओं ने इस बात पर जोर दिया कि एक अच्छी कहानी से कथालोचना के मानदंड तय हों, इसके लिए कोई फार्मूला नहीं है। हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक डॉ. नामवर सिंह ने आज से लगभग 50 साल पहले ‘नयी कहानियां’ पत्रिका के ‘हाशिए पर’ स्तंभ में ‘अच्छी कहानी?’ पर विचार करते हुए लिखा था ‘कहानी संबंधी तमाम चर्चाओं की सार्थकता इस बात में है कि आप कम से कम एक अच्छी नई कहानी दिखा सकें—ऐसी कहानी जिस पर कोई राय न दी गई हो या दी भी गई हो तो स्थिर न हुई हो। वरना अच्छी कहानी के नाम पर आपने यदि आज भी ‘उसने कहा था’ का ही नाम लिया तो क्या हुआ? एक अचूक पहचान के आगे समीक्षा के सैंकड़ों सिद्धांत फीके हैं। सिद्धांत तो एक पहचान को केवल ‘सर्व-सामान्य’, रूप देने का कार्य करते हैं; सिद्धांत के द्वारा उस पहचान को अधिक से अधिक एक ठोस, वस्तुगत एवं युक्तिसंगत आधार मिलता है। यदि कोई साफ-साफ बता दे कि मुझे एक अमुक कहानी अच्छी लगती है तो यह बताने में ज्यादा कठिनाई न होगी कि कहानी के बारे में उसकी मान्यता क्या है अथवा कोई मान्यता है भी या नहीं।’ यह लेख बाद में उनकी पुस्तक ‘कहानी : नयी कहानी’ में संकलित हुआ।

स्पष्टतः यहां नामवर जी ने यह संकेत किया है कि एक अच्छी कहानी पर विचार के क्रम में ही उस कहानी की विशेषताएं सामने आ सकती हैं और किस मानदंड पर उस कहानी को अच्छा कहा गया है, यह बात भी उभर सकती है। स्नेह ठाकुर की इस छोटी कहानी के अनेक स्तर हैं और वस्तु के भीतर अंतर्वस्तु। पूरब-पश्चिम के संस्कारों से मुठभेड़। कहना चाहिए मां पूरब है तो बेटी पश्चिम। अलग-अलग दो सभ्यताओं के प्रतीक। पश्चिम ने पूरब को ऊपर से प्रभावित किया है लेकिन भीतर से नहीं। यही कारण है कि पहली बार डेट के लिए जाते समय मां का भारतीय संस्कार उभर आता है। उदाहरण के लिए यह संवाद देखिए—‘बयालीस साल की हो गई हूं, पति बाईस साल का साथ मेरे से आधी उम्र की लड़की के लिए छोड़ गए हैं। ठीक ही तो है, उसकी तो उम्र ही नहीं वजन भी शायद मेरे से आधा होगा!!! तीन सिजेरियन बच्चों के बाद मांस-पेशियां कसाव में आने का नाम नहीं लेना चाहतीं, जवानी दामन छिटक दूर खड़ी हो गई है। शादी से पहले कभी डेट नहीं की और शादी के बाद तो डेट का प्रश्न ही नहीं उठता; तुम्हारे पिता ही सबकुछ थे। आज जिन्दगी में पहली बार डेट पर जा रही हूं।’ परिस्थितियों ने उसे भीतर से

झकझोर दिया है। उसमें गहरी जिजीविषा है। यही कारण है कि वह आत्मसमर्पण नहीं करती बल्कि परिस्थितियों से जूझती है। भीतर से बेहद आहत लेकिन अपने को भरसक टूटने से बचाने का प्रयास करती है। मां-बेटी एक साथ डेटिंग के लिए तैयार होकर अलग-अलग जाएं, अस्वाभाविक लगता है लेकिन यह बिल्कुल स्वाभाविक है। यह अलग बात है कि कहानी के अंत तक यह दंड चलता रहता है।

यह पूरी कहानी डेट पर जाने के पहले मानसिक रूप से अपने को तैयार करने की कहानी है। मां में भय और घबराहट दोनों हैं लेकिन इसके बीच उसकी बेटी अदिति है जो उसे संभालती है और कभी उसी के द्वारा पहले दिए तर्कों से उसे आश्वस्त करने की कोशिश करती है, यह विचित्र बात है। बेटी मां को न केवल डेट के लिए तैयार करती है बल्कि पुरुषों से कैसे बात की जाए, यह भी बताती है जबकि होता इसका उल्टा है यानी मां बेटी को सबकुछ बताती है। इस कहानी में एक संवाद देखिए—‘यदि आप ज्यादा नर्वस हों तो बोलिएगा मत, चुपचाप सुनती रहिएगा। पुरुषों को अच्छा लगता है जब कोई उन्हें सुनता रहे, अपने को महत्वपूर्ण समझने लगते हैं।’

यद्यपि मां को उसके मित्र, शुभचिंतक उसे अपने आप को संभालने की सलाह देते हैं, लेकिन वह आत्मसंघर्ष करती रहती है, खुद को प्रताड़ित करती है, आत्मग्लानि से भरी हुई है कि उसे किस गलती की सजा अनिल ने दी। भारत हो या दुनिया का कोई भी देश, हर जगह पुरुष वर्चस्व है क्योंकि क्षणिक दैहिक सुख के लिए पुरुष किसी भी सीमा को लांघ सकता है। इसमें पत्नी कहां आती है? हद तो यह है कि स्त्री विमर्ष की बात भी पुरुष ही करते हैं यानी जो भक्षक है वही रक्षक बनने का दावा करता है।

कहानी के अंत में मां धीरे-धीरे अपने को संभालती है क्योंकि उसमें फिर से जीवन जीने की लालसा उत्पन्न हुई है। प्रसिद्ध कवि गेटे ने कहा था—‘जीवन का वृक्ष हमेशा हरा-भरा रहता है।’ मां बेटी को बताती है—‘जिस दिन पहली बार नौकरी पर गई थी, आत्म-विश्वास फिर डगमगा गया था, पर तुम लोगों के प्रति उल्लसित चेहरे देख डगमगाते कदमों को सहारा मिला था।’

‘अदिति, यहीं पर ऑफिस में पीयूष से मुलाकात हुई। तुम्हारे पिता से बिल्कुल अलग व्यक्तित्व—शांत, गंभीर, अल्पभाषी, पर अपनी लगन के पक्के। दो बार मना करने पर भी आज शाम की डिनर-डेट के लिए पूछ बैठे।’ लेकिन मां डेट पर जाने से सकुचाती है। वह कहती है—‘अब तुम्हीं बताओ उम्र के इस दौर में कैसे परियों के देश में पहुंच जाऊं? कहां से वह उत्साह लाऊं

जो कब का मुझे छोड़ चुका है? न... अब मुझमें और निराशाओं को झेलने की शक्ति नहीं रही। मैं न जा पाऊंगी। यह प्रथम डेट शुरू होने से पहले ही समाप्त हो जाए तो बेहतर है।’

यह कहानी मुझे इसलिए अच्छी लगी कि यह कहानी जहां से शुरू होती है, खत्म वहां नहीं होती। इस कहानी का विस्तार बहुत ज्यादा है और इसका सीधा संबंध हमारी भावनाओं से है। मां-बेटी के संबंध उस स्तर से ऊपर उठ गए हैं

यानी एक मित्र के स्तर पर आ गए हैं। कहां तो मां डेट पर अंततः नहीं जाने की जिद करती है और कहां बेटी की जिंदगी से अपने को जोड़कर अपने भीतर आत्मविश्वास पैदा करती है और दर्पण में चेहरा देखकर फिर से नया जीवन जीने के लिए अपने भीतर उत्साह पाती है। इसलिए भी कहानी मुझे अच्छी लगी कि कहानी वहां समाप्त नहीं होती है जहां उसे होना चाहिए था बल्कि वहां समाप्त होती है जहां नहीं होना चाहिए। मेरे कहने

का आशय यह है कि कहानी खत्म हो जाने के बाद भी बहुत देर तक और दूर तक पाठकों के मन में गूँजती रहती है मुक्तिबोध की कविता ‘मुझे पुकारती हुई पुकार’ की तरह।

B/19/F दिल्ली पुलिस अपार्टमेंट्स, मयूर विहार  
फेज-1, मो. 9891349058

## हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से एक अपेक्षा यह की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराए। यह तभी संभव हो सकता है, जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्त्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुंचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्त्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्त्वपूर्ण लिखा गया है, उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनियाभर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहां हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियां और रचनाएं उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग साढ़े चार लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब दो हजार पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय एक लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-सी मूल्यवान रचनाएं संजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्त्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को चौदह मुख्य खंडों में बांटा गया है—उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, भक्ति काल का साहित्य, विभाजन की कहानियां, लेखकों के समग्र और संचयन, ई-पुस्तकें, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिक निबंध, संस्मरण, व्यंग्य, यात्रा वृतांत आदि शामिल हैं। एक प्रमुख खंड ‘हिंदुस्तानी की परंपरा’ का है, जिसमें उन कृतियों तथा रचनाओं को शामिल किया गया है, जो हिंदी-उर्दू की साझा परंपरा का जीवंत दस्तावेज हैं। एक खंड अभिलेखागार का भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों की तस्वीरों, उनकी हस्तलिपि में लिखित रचनाओं, ऑडियो, वीडियो, पत्रों आदि का संकलन है। लेखक दीर्घा में हिंदी के सभी समकालीन रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध कराने का प्रयास जारी है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएं तथा सूचनाएं आदि भेजकर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152230912 पर फोन करें या editorhindisamay@gmail.com पर मेल करें।

राजकिशोर

फोन : 09650101266

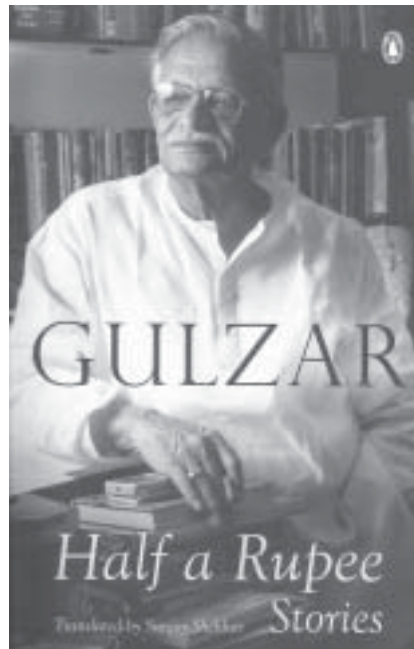
# युद्ध की चालाकी

अनंत विजय

गु

लजार भारतीय सिनेमा जगत का एक ऐसा नाम है, जो पिछले एक दशक में हिंदी अंग्रेजी प्रकाशकों के बीच भी उतना ही लोकप्रिय हो गया है। गुलजार को लंबे वक्त तक साहित्य की दुनिया में गंभीरता से नहीं लिया गया। उनको फिल्मी लेखक कहकर हाशिए पर रखा जाता रहा। इसमें इस दौर के वामपंथी आलोचकों का बड़ा हाथ रहा है जो विचारधारा से अलग लेखकों को लेखक मानते ही नहीं थे। साहित्य में न केवल वामपंथी लेखकों का बोलबाला था बल्कि कांग्रेस पार्टी को समर्थन के एवज में देश की तमाम साहित्यिक सांस्कृतिक संस्थाओं पर उनका दबदबा भी था, कब्जा भी कह सकते हैं। अपने इस दबदबे का वामपंथी या यों कह सकते हैं कि मार्क्सवादी साहित्यकारों ने जमकर फायदा उठाया और लेखकों को विचारधारा में शामिल करने के हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया। जन और लोक की बात करनेवाले इन साहित्यकारों ने लोकप्रियता की एक नई परिभाषा गढ़ी। जनता और पाठकों के बीच लोकप्रियता के नए प्रतिमान स्थापित करनेवाले लेखकों को हल्का और फूहड़ कह कर खारिज करते। साहित्य में उनका मूल्यांकन होने ही नहीं दिया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण शिवानी की रचनाएं हैं। मानवीयता और घर परिवार को अपने लेखन का विषय बनाने वाली शिवानी को प्रचुर लेखन और जबरदस्त लोकप्रियता के बावजूद वामपंथी साहित्यकारों ने एक षड्यंत्र के तहत उन्हें गंभीरता से नहीं लिया। क्या शिवानी की रचनाएं किसी भी तथाकथित विचारधारा के लाल रंग में डूबे उपन्यासकार या कहानीकार

की रचनाओं से कम है? क्या शिवानी की रचनाओं में मानवीय मूल्यों की कमी है? मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि ऐसा नहीं है। आज भी शिवानी के उपन्यास अपनी पठनीयता और विषयवस्तु की वजह से बेहद लोकप्रिय हैं। सालों तक शिवानी के उपन्यास हिंदी के कथित प्रतिष्ठित प्रकाशकों के यहां से नहीं छप सके, इसके पीछे की वजह को जानना भी दिलचस्प होगा। उनकी मृत्यु के चार साल बाद 2007 के आसापास राजकमल प्रकाशन ने शिवानी की रचनाओं का एक पूरा सेट प्रकाशित किया। यह वामपंथी फासीवाद का एक बेहतरीन नमूना है। इसके अलावा लाखों की संख्या में बिकनेवाले उपन्यासों को चालू, फूहड़ और लुगदी साहित्य करार दे दिया गया। हिंदी में कौन सा लेखक यह दावा कर सकता है कि उसकी रचनाएं गुलशन नंदा से ज्यादा बिकी हों। हिंदी के



आलोचक इस बात से भी इनकार करते हैं कि बिक्री कोई पैमाना नहीं हो सकता है अच्छी कृति होने का। हो सकता है कई बार ऐसा संभव हो लेकिन जनता के बीच जो चीज प्रिय हो या जिसे जनता पसंद करे उसे सिरे से खारिजकर देना कहां तक जायज है। मार्क्स के झंडाबरदारों के मुताबिक अच्छे और श्रेष्ठ लेखन का पैमाना तो सिर्फ और सिर्फ विचारधारा की चौहद्दी का लेखन ही हो सकता है। कंटेंट पर तो बात बाद में होती है। क्या तथाकथित प्रतिष्ठित हिंदी साहित्य में राजनीतिक कल्ल या साजिश पर कोई ढंग का उपन्यास है। मेरे जानते तो नहीं है। इस तरह का उपन्यास भी वेद प्रकाश शर्मा ने ही लिखा है जिसने राजीव गांधी की हत्या को केंद्र में रखकर दो खंडों में वर्दी वाला गुंडा लिखा। इस उपन्यास की रिकॉर्डतोड़ बिक्री हुई। लेकिन इसे भी मेरठ से छपनेवाला, सस्ता, दोयम दर्जे का, फूहड़ और ना जाने क्या क्या कहकर खारिज कर दिया गया। खैर यह एक अवांतर प्रसंग है, जिसपर कभी बाद में विस्तार से चर्चा होगी।

साहित्यकार विरादरी में प्रतिष्ठा नहीं मिलने के बावजूद गुलजार पाठकों और दर्शकों के बीच बेहद लोकप्रिय रहे। वामपंथ के लगभग पतन के बाद गुलजार की न केवल लोकप्रियता में इजाफा हुआ बल्कि लेखक समुदाय के बीच उनकी स्वीकार्यता भी बढ़ी। आजकल तो गुलजार जो भी लिखते हैं उसपर जमकर चर्चा होती है, बल्कि उसको छापने के लिए प्रकाशकों के बीच होड़ लगी रहती है। बाजार का दबाव या पाठकों का प्यार। पिछले एक दशक में गुलजार की लोकप्रियता ने भाषा की सरहद को भी छिन्न-भिन्न कर दिया। पहले उनकी रचनाएं उर्दू और पंजाबी

के अलावा हिंदी भाषी लोगों के बीच लोकप्रिय थी लेकिन कालांतर में उनकी रचनाएं अंग्रेजी और कई अन्य भाषाओं में अनूदित प्रकाशित होने लगी। अंग्रेजी के प्रकाशकों ने तो गुलजार को हाथों हाथ लिया और सलेक्टेड पोएम्स से लेकर नेगलेक्टेड पोएम्स तक छपा। गुलजार के 100 गीतों का संग्रह हंड्रेड लिट्रिक्स के नाम से भी छपकर बाजार में आया। इन किताबों की बिक्री भी ठीक-ठाक हुई।

पिछले कई सालों से रवीन्द्र कालिया के संपादन में निकलनेवाली साहित्य पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' में गुलजार एक स्तंभ लिख रहे हैं। कभी उसमें कविताएं होती हैं, कभी संस्मरण और कई बार छोटी कहानी। गुलजार की भाषा शानदार है और उसमें वे जिस तरह से शब्दों का इस्तेमाल करते हैं उससे भाषा की चमक बिजली की कौंध की तरह पाठकों को चुंधिया देती है। गुलजार अपने वाक्यों में हिंदी और उर्दू के अलावा अंग्रेजी के शब्दों का भी बेहतरीन उपयोग करते हैं जो उनके कहने के अंदाज को धारदार बना देता है। जैसे एक फिल्म के गाने में वो कहते हैं—उनकी आंखें कमाल करती हैं, पर्सनल से सवाल करती है, उनकी बातों में किमाम की खुशबू है। फिल्म 'बंटी और बबली' का यह गाना 'कजरारे-कजरारे' बेहद लोकप्रिय हुआ था। लेकिन इस गाने में दो शब्द ऐसे हैं जो उसे एकदम से ऊपर लेकर चले जाते हैं—पर्सनल और किमाम। एक अंग्रेजी का शब्द और दूसरा एकदम से पान की दुकान पर इस्तेमाल किया जानेवाला शब्द। हिंदी के शुद्धतावादियों और इसमें अंग्रेजी के भाषा के इस्तेमाल का विरोध करनेवालों को पर्सनल का विकल्प देकर बताना चाहिए कि क्या कोई ऐसा शब्द है जो उसे रिप्लेस कर सके।

'नया ज्ञानोदय' में लिखे गुलजार के संस्मरणों और छोटी कहानियों का एक संग्रह अंग्रेजी में अनूदित होकर आया है—हाफ अ रुपि। अनुवाद किया है संजय शेखर ने। इस किताब के कवर पर गुलजार की फोटो है फिर लिखा है—हाफ अ रुपि—इस शीर्षक के नीचे लिखा है स्टोरीज। कवर पर स्टोरीज लिखकर पाठकों को यह बताने की कोशिश की गई है कि यह गुलजार के कहानियों का संग्रह है। जबकि यह आंशिक तौर पर ही

सही है। इसमें गुलजार के लिखे कई संस्मरण भी छपे हैं। जैसे कुलदीप नैयर, साहिर, जावेद अख्तर और भूषण बनमाली पर लिखे उनके संस्मरण हैं। कुलदीप नैयर वाले संस्मरण में पीर साहब को लेकर गुलजार ने अद्भुत संस्मरण लिखा है लेकिन उसका ही जब मैंने अंग्रेजी अनुवाद पढ़ा तो वो मजा नहीं आया जो हिंदी में पढ़कर आया था। क्योंकि जो भाषा की रवानगी हिंदी में थी वो अंग्रेजी में नहीं है। हो सकता है कि गुलजार को हिंदी में नहीं पढ़ पानेवाले पाठकों को अंग्रेजी में पढ़ना सुखकर लगे लेकिन गुलजार की भाषा का आस्वादन तो हिंदी में ही संभव है।

साहिर लुधियानवी और जावेद अख्तर का बेहद आत्मीय और करीबी रिश्ता था। अपने इस संस्मरण में गुलजार ने साहिर और जावेद, जिसे उनके करीबी जादू कहते हैं, के प्यार और प्यार भरे नफरत के रिश्तों पर आत्मीयता से लिखा है। गुलजार के मुताबिक जावेद अख्तर और उनके पिता जां निसार अख्तर के बीच बनती नहीं थी लेकिन जबतक जावेद की मां जीवित रही तबतक तो वो अपने पिता के साथ रहते रहे लेकिन मां की मौत के बाद उनका पिता के साथ रहना मुमकिन नहीं हो पा रहा था और वो किसी इमोशनल ठौर की तालश में थे। इस तलाश ने उनको साहिर के और करीब ला दिया था। साहिर उस दौर में कृष्ण चंद्र की जुहू वाली कोठी में रहा करते थे और हर रोज शाम को पीने पिलाने का दौर चलता था। उनके साथ ओम प्रकाश अशक भी रहा करते थे। एक रोज रसरंजन के दौरान अशक ने साहिर से पूछा—एक पैग के बाद तुम सभी को गाली गलौच क्यों करने लगते हो। साहिर ने पंजाबी में बोला—यार...अब शराब नाल कुछ चटपटा तो होना ही चाहीदा ना। उसके बाद साहिर की मौत और जादू के सौ रुपए का मशहूर वाक्या भी गुलजार ने लिखा है। साहिर की मौत अचानक हुई थी। वो अपने बीमार दोस्त डॉ. कपूर का दिल बहलाने के लिए ताश की बाजी तैयार करवा रहे थे कि अचानक से दिल का दौरा पड़ा और साहिर वहीं गिर पड़े। बाद में जावेद अख्तर ने साहिर के पार्थिव शरीर को एक टैक्सी ड्राइवर और साहिर के ड्राइवर की मदद से रात को उनके घर लेकर पहुंचे। सुबह

जब जादू साहिर के घर से बाहर निकले तो टैक्सी ड्राइवर बाहर उनका इंतजार कर रहा था। जावेद ने बातचीत के बाद उसको सौ रुपए का नोट देने लगे लेकिन ड्राइवर के इंकार करने पर बोले—रख लो, रख लो ये सौ रुपए। मैं जानता हूँ कि वो शख्त अपने पैसे वसूलना जानता था। अपनी मौत के बाद भी उसने अपने सौ रुपए वसूल ही लिए। दरअसल मुफलिसी के वक्त जावेद को साहिर ने सौ रुपए दिए थे। ये वाक्या कई बार लिखा—बोला जा चुका है लेकिन गुलजार की कलम के कहने के अंदाज ने इसे खास बना दिया।

इसके अलावा भी सवा दौ पेज के इस संग्रह में कई दिलचस्प संस्मरण और कहानियां हैं जो अंग्रेजी के पाठकों को गुलजार के गद्य से परिचित करवाएंगे। मेरी आपत्ति सिर्फ इस बात को लेकर है कि इस संग्रह को गुलजार की कहानियों के संग्रह को तौर पर पेश किया गया है। जबकि यह संग्रह कहानियों और संस्मरणों का कोलाज है। दरअसल यह बाजार की मांग और प्रकाशक की स्मार्टनेस है जो पाठकों को भ्रमाकर अपनी झोली भरते हैं। हालांकि बैक कवर पर फैंसिनेटिंग स्टोरीज के शीर्ष के बाद इन संस्मरणों को रियल लाइफ स्टोरीज कहा गया है और आलोचना से बचने का रास्ता छोड़ा गया है। सवाल यह उठता है कि क्या यह अनुवादक का दायित्व नहीं था कि वो इस बात को साफ करते कि इस संग्रह में कहानियों के अलावा गुलजार के संस्मरण भी हैं। लेकिन बाजार को भुनाने की चाहत ने युधिष्ठिर के अश्वत्थामा हतो—नरो वा कुंजरो कहने के बीच शंख बजा देने की चालाकी का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन वो तो महाभारत था जहां यह चालाकी काम कर गई। पुस्तकों के बाजार में यह शंखघोष कितना काम करता है यह देखनेवाली बात होगी।

हाफ अ रुपि/ गुलजार/ अनुवाद : संजय शेखर/ पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली/मूल्य : 299

आरटी-222, रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश-201014,

फोन-09871697248

ईमेल : anant-ibn@gmail.com